CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

ध्यानोपदेशकोष

(योगसार संग्रह)

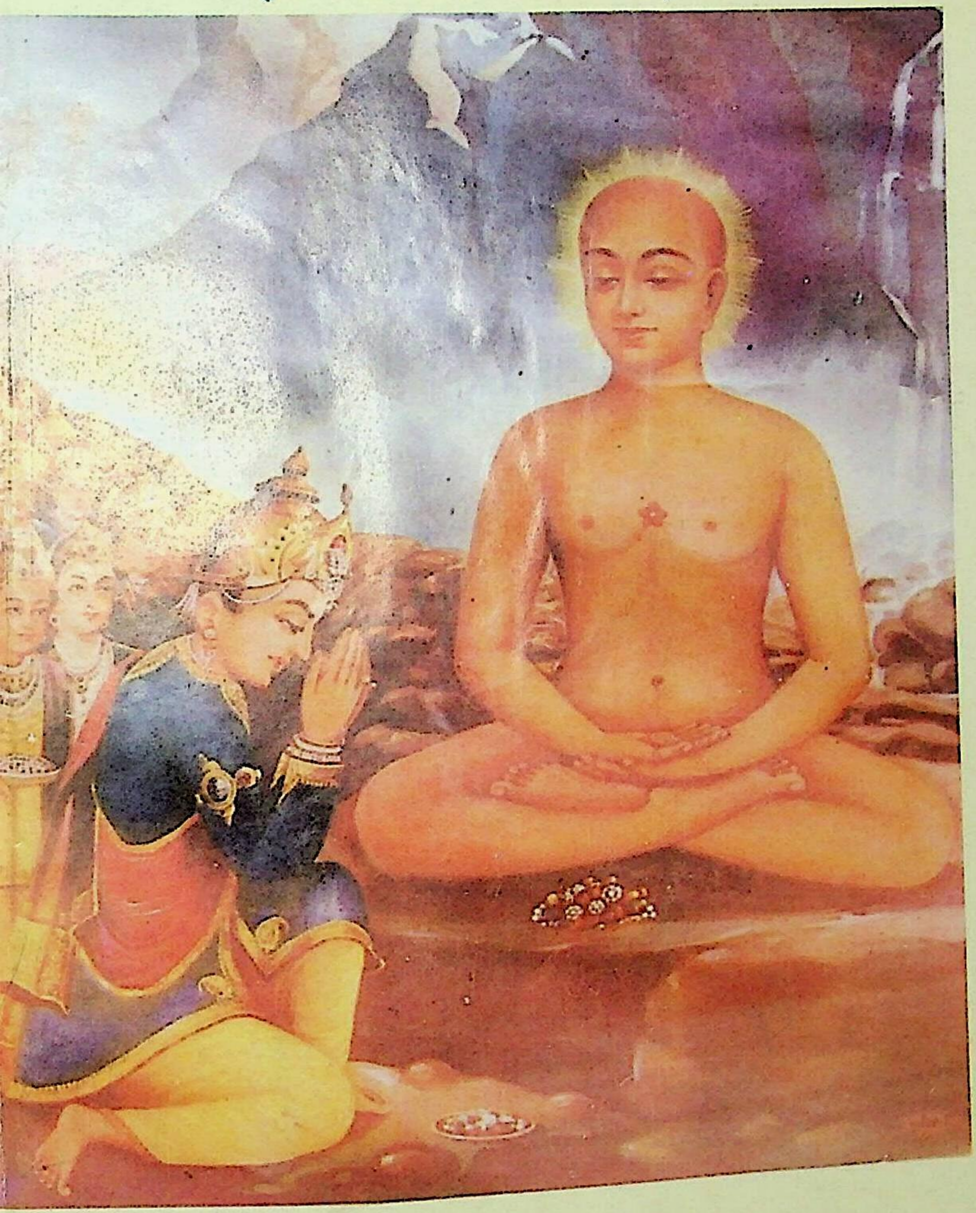

आचार्य श्री गुरुदास

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

उदयचन्द्र जैन
वाराणसी

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

ध्यानोपदेशकोष

(योगसार संग्रह)

(आचार्य श्री गुरूदास)

अनुवादक/सम्पादक

ब्र. विनोद जैन
श्री वर्णी दिग. जैन गुरूकुल
पिसनहारी, जबलपुर (म.प्र.)

ब्र. अनिल जैन
श्री वर्णी दिग. जैन गुरूकुल
पिसनहारी, जबलपुर (म.प्र.)

48.22.

प्रकाशक
पोतदार धार्मिक एवं पारमार्थिक न्यास
पोतदार निवास, टीकमगढ़ (म.प्र.)

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

कृति	-	ध्यानोपदेशकोष (योगसार संग्रह)
अनुवादक/सम्पादक	-	ब्र. विनोद जैन ब्र. अनिल जैन
प्रथम संस्करण	-	मार्च 1999
प्रति	-	500
मूल्य	-	35 रूपये मात्र (लागत)

अर्थ सहयोग

श्री प्रद्युमन कुमार जैन

श्री विनीत कुमार जैन

श्री संजय कुमार जैन

श्रीमती अनुराधा जैन W/O श्री अनुज जैन
वर्धमान आयरन एण्ड स्टील कम्पनी
चिलकाना रोड़, सहारनपुर (उ.प्र.) 247001
फोन 645388 (घर), 747757 (दु.)

प्राप्ति स्थल :

१. श्री कपूर चंद्र जैन 'पोतदार'
पोतदार निवास, टीकमगढ़ (म.प्र.)

२. ब्र. जिनेश शास्त्री
संचालक : श्री वर्णी दिग. जैन गुरूकुल
पिसनहारी मढ़िया जबलपुर (म.प्र.)
फोन नं. 0761-422991

३.श्री सुरेश चंद्र, विजय कुमार त्यौरइया
सराफा बाजार, टीकमगढ़ (म.प्र.)
फोन नं. 07683 -32028

कम्पोजिंग:
क्विक कम्प्यूटर्स
सुपर मार्केट, जबलपुर

-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

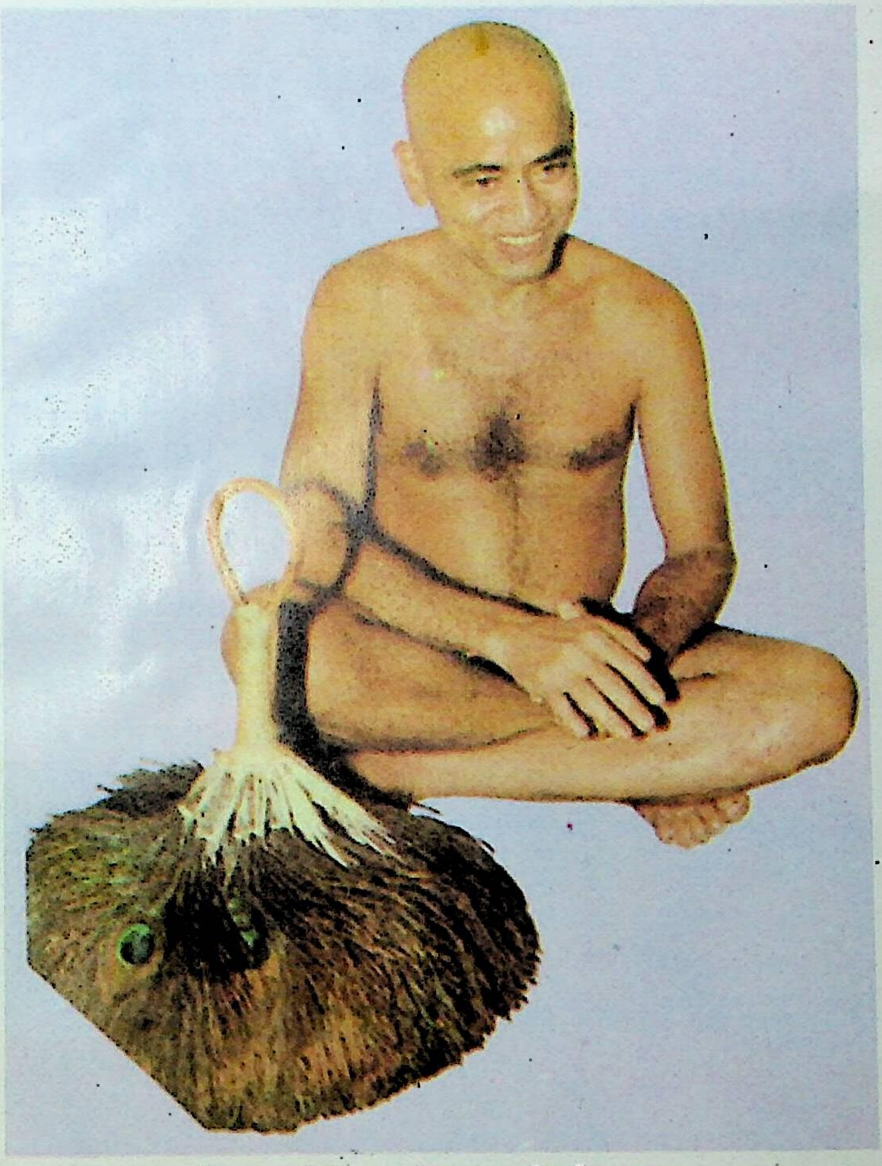

दिगम्बराचार्य श्री 108 विद्यासागर जी मुनि महाराज

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

प्रकाशकीय

"ध्यानोपदेश कोष" (योगसार संग्रह) नामक ग्रंथ जो कि आचार्य श्री गुरूदास जी द्वारा विरचित है । इस ग्रंथ के प्रकाशन का सौभाग्य "पोतदार ट्रस्ट" को प्राप्त हुआ है । यह अत्यधिक गौरव की बात हैं इस ट्रस्ट का यह तृतीय प्रकाशन है इस ट्रस्ट का मुख्य उद्देश्य यही है कि जो अप्रकाशित एवं महत्वपूर्ण जैनागम की विलुप्त सामग्री है उसके प्रकाशन के भार का यह निर्वाह करता रहे । पूर्व में इस ट्रस्ट के द्वारा रत्नकरण्डश्रावकाचार एवं सर्वोदयी जैन तन्त्र का प्रकाशन हुआ है।

श्री अनुज जैन, सहारनपुर निवासी एक ऐसे उदार एवं सरल हृदय व्यक्तित्व है जो अपने श्रावक धर्म के षट् आवश्यक कर्तव्यों का निर्दोष रीति से पालन करनें का प्रयास करते हैं उन्होंने इस ग्रंथ को जन जन तक पहुंचवाने का संकल्प लिया है अतः आप अत्यधिक धन्यवादार्ह हैं । आशा है कि आगामी कार्य में आप इस ट्रस्ट के महत्वपूर्ण कार्यो में सहयोग प्रदान करेगें ।

इस ग्रंथ के अनुवादक/सम्पादक भाई द्वय ब्र.विनोद जी एवं ब्र. अनिल जी को मैं अत्यधिक श्रद्धा से स्मरण करना चाहता हूँ आप दोनों निरंतर ही श्रुत की आराधना में अपना अत्याधिक समय लगाते रहते हैं । ब्र.विनोद जी जो कि विगत चार वर्षों से अतिशय क्षेत्र पपौरा जी में विराजमान रहकर श्रुत आराधना के साथ टीकमगढ़ निवासियों को भी स्वाध्याय शिक्षण शिविर आदि के द्वारा लाभ पहुंचाते रहते है समय समय पर आपसे मेरा मिलन होता रहता है मैं आपकी जिनवाणी आराधना से अत्याधिक प्रभावित हूँ आशा है आप इस प्रकार के रचनात्मक कार्य करते रहेंगे ।

मैं आशा करता हूँ क्रि इस कृति का लाभ विद्वज्जन के साथ साथ सामान्य लोग भी करेंगे ।

विनीत

कपूर चंद्र जैन पोतदार

अध्यक्ष

पोतदार धार्मिक एवं पारमार्थिक ट्रस्ट

पोतदार निवास, टीकमगढ़ (म.प्र.)

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

पुरोवाक्

ध्यान और योग को आज मौलिक बनाने का प्रयास कुछ आडम्बर प्रधान विज्ञापनकर्ता अर्थोपार्जन की दृष्टि से करते तो नजर आ रहे हैं परन्तु वास्तविक पद्धति के अभाव में वह बिना पंख के पक्षी के उड़ने की तरह निष्फल होता हुआ प्रतीत हो रहा है। यही कारण है कि आधुनिक ध्यान पद्धतियों का अनुकरण करने पर भी मानव को यथार्थ शान्ति की उपलब्धि नहीं हो रही है।

जैन श्रमण परम्परमा में ध्यान और ज्ञान की मुख्य साधनायें रहीं हैं - यही कारण है कि जैनागम में ध्यान विषयक विपुल सामग्री उपलब्ध होती है। ध्यानोपदेश कोष (योगसार संग्रह) भी ध्यान परम्परा को जीवित बनाने के लिए आचार्य शुभचन्द्र से पूर्व श्री गुरुदास द्वारा ग्रंथ के रूप में गुम्फित किया गया था। आचार्य श्री गुरुदास ने ध्यानोपदेश में सार संक्षेप से ध्यान विषयक सामग्री गागर में सागर की तरह लिपिबद्ध की है श्री वर्णी दिग.जैन गुरुकुल के सुधी ब्रह्मचारी द्वय ब्र. विनोद जी एवं अनिलजी ने इसको अनुवादित कर अन्य ध्यान विषयक ग्रंथों से उपयोगी प्रासङ्गिक सामग्री एकत्रित की है। आप दोनों अप्रकाशित महत्वपूर्ण कृतियों को जनसामान्य तक पहुँचाने की भावना से ओत प्रोत हैं। आप दोनों का यह कार्य अत्यधिक प्रसंनीय है। पूर्व में आपने आचार्य श्री जिनचन्द का सिद्धान्तसार भी अनुवादित किया था तथा आप दोनों के द्वारा धवला पारिभाषिक कोश का भी उपयोगी संकलन किया गया है। समय पाकर उसका भी प्रकाशन होगा। यह सब कुछ परम पूज्य गुरुवर विद्यासागर की ही भावना का फल है कि गुरुकुल सत् साहित्य के प्रकाशन के साथ साधना के क्षेत्र, अध्यापन के क्षेत्र अथवा विधि विधान के क्षेत्र में निरन्तर अग्रसर होता जा रहा है। पूज्य पंडित श्री पन्नालाल जी की अनुकम्पा का प्रतिफल एवं आचार्य श्री की भावना का प्रतिफल इसको नये आयाम देता रहेगा। यही मनोभावना है।

वीर जयन्ती 29.3.99 **ब्र. जिनेश जैन**

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सम्पादकीय

वीर निर्वाण सम्वत् 2505 में श्री शिवसागर दिगम्बर जैन ग्रंथमाला, महावीरजी. से मुनि श्री 108 अजितसागर जी द्वारा सम्पादित ''स्तोत्रादिसंग्रह'' नामक पुस्तक प्रकाशित हुई थी उसमें मुनि श्री जी ने शास्त्र भण्डारों से प्राप्त कुछ अप्रकाशित ग्रंथों का प्रकाशन कराया था उसी में ध्यानोपदेश कोष अथवा योगसार संग्रह नामक कृति का भी प्रकाशन हुआ था ध्यान विषयक सामग्री का अध्ययन करने की जिज्ञासा से हम लोगों ने कुछ वर्षो पूर्व उस ग्रंथ का भी अवलोकन किया था उस समय यह विचार आया था कि इस ग्रंथ का अनुवाद हो जाये तो ध्यान के विषय में गवेषणा करने वाले अध्येताओं को उपयोगी होगा लेकिन उस समय संभव न हो सका। इस वर्ष मैं पर्व दिनों में सहारनपुर गया था वहाँ कुछ श्रुत भण्डार भी अवलोकन करने को मिले। उन्हीं में एक कॉपी मिली जिसमें इसी ग्रंथ का अशुद्ध अव्यस्थित अन्वय करने का प्रयास किया गया है जो अपूर्ण है। इस प्रति को आधार बना कर हम लोगों ने अन्वयार्थ भावार्थ करने का तथा उपयोगी प्रासङ्गिक सन्दर्भो का संग्रह करने का यह प्रयास किया है तथा कहीं पर आवश्यक प्रकरणों में अभीक्ष्ण-ज्ञानोपयोगी, मृदुभाषणी, सरल एवं उदार ह्रदया आर्यिका दृढ़मती माता जी का एवं विद्यागुरु डा. पं.पन्ना लाल जी साहित्याचार्य का भी सहयोग लिया है। **यह ग्रंथ प्रथम बार ही अनुवाद सहित प्रकाशित हो रहा है।** ज्ञानार्णव में इस ग्रंथ के 13 संदर्भ ''उक्तं च ग्रन्थान्तरे'' कह कर प्राप्त होते हैं।

दोनों ग्रंथगत कुछ श्लोक निम्न प्रकार से हैं -

वीतरागो भवन्योगी यच्च किंचिद्वि चिन्तयेत्।
तदेव ध्यानमाम्नातमतोऽन्ये ग्रन्थविस्तरः ॥ ध्यानोपदेश कोष /85

वीतरागो भवेद्योगी यत्किंचिश्चदपि चिन्तयेत्।
तदेव ध्यानमाम्नातमतोऽन्यद् ग्रन्थविस्तर :॥ ज्ञानार्णव 38 /113

निष्कलः परमात्माऽहं लोकालोकावभासन :।
विश्व व्यापू स्वभावस्थो विकार परिवर्जित :॥ ध्यानोपदेश कोष /95

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

निष्कलः परमात्माऽहं लोका लोकावभासक : ।
विश्वव्यापी स्वभावस्थो विकार परिवर्जित : ॥ ज्ञा. 41/30

अर्थादर्थं वचः शब्दाद्योगं योगात् समाश्रयन् ।
पर्यायादपि पर्यायं द्रव्याणोश्चिन्तयेदणुम् । ध्या. को /129

अर्थादर्थं वचः शब्दं योगाद्योगं समाश्रयेत् ।
पर्यायादपि पर्यायं द्रव्यांणोश्चिन्तमेदणुम् ॥ ज्ञा 42/16

ठीक इसी क्रम में ध्यानोपदेश कोष का श्लोक 131 और ज्ञानार्णव का सर्ग 42 श्लोक 26 के अन्तर्गत "उक्तं च ग्रन्थान्तरे" का श्लोक समान ही है। उपर्युक्त श्लोकों को अवलोकन करने से ज्ञात होता है कि आचार्य शुभचन्द्र के पूर्व ध्यानोपदेश कोष अथवा प्रायः इसी प्रकार की शब्द संयोजना से सहित कोई योग का ग्रंथ रहा होगा। जिससे आचार्य शुभचन्द ने उस ग्रंथ के सन्दर्भ ज्ञानार्णव में प्रस्तुत किये हैं।

इस ग्रन्थ के श्लोक संख्या 36 और श्लोक 157 से ज्ञात होता है कि इस ग्रंथ के दो नाम संभव हैं - ध्यानोपदेश कोष और योगसार संग्रह। यही कारण रहा कि मुनि श्री अजित सागर जी ने "ध्यानोपदेश कोष अथवा योगसार संग्रह" इस शीर्षक को लिखकर ग्रंथ का प्रकाशन करवाया था। योगसार नाम से कुछ ग्रंथ प्रकाशित हो चुके हैं - अतः हमने भी "ध्यानोपदेशकोष" नाम की मुख्यता रखकर, इसे मुख्य शीर्षक का स्थान दिया है।

ध्यानोपदेशकोष में प्रतिपाद्य विषय और विशेषताएं :-

आचार्य श्री गुरुदास जी ने ग्रंथ के प्रारम्भ में मङ्गलाचरण के पश्चात् ध्यान साक्षात् मुक्ति का कारण है अतः आलस का परित्याग कर ध्यान के साधनों में मुमुक्षुओं को ध्यान का अभ्यास करना चाहिए। गृहवास में ध्यान सिद्धि संभव नहीं है अतः ध्यान सिद्धि के लिए गृहवास परित्याग करना चाहिए। साम्य भाव की प्राप्ति ही साधक के लिए साध्यभूत है। पश्चात् क्रमशः ध्याता, ध्यान, ध्येय और ध्यान के फल विवेचन कर अंत में पुनः मंङ्गलरूप कुछ श्लोक प्रस्तुत किये हैं। ग्रंथ को पढ़ने के पश्चात् ज्ञात होता है कि जो विषय ज्ञानार्णव में विस्तृत रूप से विवेचित है- प्रायः वही सम्पूर्ण विषय श्री गुरुदास के इस ग्रंथ में संक्षेप से कहो या

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सूत्रात्मक शैली से निरूपण किया गया है। यथा-

षोड्शाक्षर विद्यायां स्यात्तदेव शतद्वये ।
त्रिशत्या षद्सु वर्णेषु चतुः षद्शत्या चवार्धिषु ॥65॥ ध्यानोपदेश कोष

इस एक ही श्लोक में आचार्य श्री जी ने षोड्शाक्षरी, षड्क्षारी और चतुः वर्ण पदों के मंत्रों का निर्देश कर दिया जबकि ज्ञानार्णव में इनका निर्देश (सर्ग 38/48- 51) चार श्लोकों में किया गया है। इसी प्रकार ध्यान योग्य स्थान का निरूपण श्री गुरुदास जी ने एक ही श्लोक में कर दिया है।

शून्य वेश्मगिरीन्द्रोरु गुह्यगह्वर मध्यगः ।
विविक्त विजानारण्य निराबाध प्रदेश भाक् ॥50॥

ज्ञानार्णव में ध्यान योग्य स्थान जो लगभग इसी आशय को व्यक्त करते हुये - सात श्लोकों का उल्लेख किया गया है (दे. ज्ञानार्णव सर्ग 28 / 1-7) तथा इसी प्रकार आचार्य गुरुदास ने बारह भावनाओं का निरूपण संक्षेप से 14 श्लोकों में पूर्ण कर दिया। जबकि आचार्य शुभ चन्द्र जी ने विस्तार से लगभग 200 श्लोकों में इन भावनाओं का निरूपण किया है। इसी प्रकार अन्यत्र भी ग्रंथ में ऐसे प्रसंग प्राप्त होते हैं। इस प्रकार यदि यह कहा जाय कि ज्ञानार्णव का सूत्रात्मक ग्रंथ ध्यानोपदेश कोष है तो अतिशियोक्ति न होगी। ध्यान विषयक अन्य ग्रन्थ यथा -तत्त्वानुशासन, आत्मप्रबोध, ज्ञानार्णव, ध्यानशतक, ध्यानस्तव इत्यादि ग्रंथों में ध्यान विषय जो सामग्री उपलब्ध है उतनी ही सामग्री इस ग्रंथ में भी उपलब्ध है। ध्यान जिज्ञासुओं को यह ग्रंथ कुछ नवीन विषयों का भी प्रतिपादन करता है। यथा -

क्षुत्तृष्णोष्मादिभिर्दुःखै विषयै र्वा प्रकम्पते ।
निसर्गतरलं चित्तं वायुना शीर्णपर्णवत् ॥113॥
धर्तुंमनो न शकनोति मुनिरल्पवलो यदा।
निवीर्यं बन्धसंबन्धं केवलं कुरुते तदा॥ 114॥

यहाँ इन श्लोक कारिकाओं में यह भाव प्रदर्शित किया गया है कि हीन संहनन युक्त योगी यदि क्षुधादि परीषहों के द्वारा शक्ति से अधिक मनोरोध करना चाहता है तो अल्पबल मुनि मानसिक संक्लेशता के कारण बंध को ही प्राप्त होता है अतः यथाशक्ति तपादि स्वीकार करना चाहिए। तथा इसी क्रम में पदस्थ के प्रकरण में निम्न श्लोक दृष्टव्य है -

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

मस्तके वदने कण्ठे, हृदये नाभिमण्डले ।
ध्यायेच्चन्द्रकलाकारं, योगे प्रत्येकमम्बुजम् ॥79 ॥

पदस्थ ध्यान के उल्लेख में मङ्गल रूप वर्णों का चिन्तवन के साथ-साथ इस विषय का नवीन प्रतिपादन आचार्य श्री जी ने किया है कि पाँच स्थानों पर अर्थात् मस्तक, मुख, कण्ठ, हृदय और नाभि में कमल की रचना करे और उन पत्रों पर चन्द्रमा की कलाओं का ध्यान करे। अन्यत्र जैन ध्यान के ग्रंथों में इस प्रकार का विषय उपलब्ध नहीं होता है।

इस प्रकार एक लघुकाय ग्रंथ ध्यान इच्छुक साधकों के लिए विशेष उपयोगी सिद्ध होगा।

ग्रन्थ के संपादन में भारतीय ज्ञानपीठ से प्रकाशित योगसारसंग्रह नाम से प्रकाशित ध्यानोपदेश कोष का भी मूलपाठ में आगत अशुद्धियों को दूर करने के लिए भी प्रयोग किया गया है। दोनों प्रतियों के आधार पर युक्तिसंगत शुद्ध पाठ को रखने का प्रयास किया है। फिर भी कुछ पाठ अशुद्ध हैं यथा संभव प्रकरणानुसार उनका अर्थ करने का प्रयास किया गया है।

इस कार्य को सम्पादित करते हुये हम लोग ब्राह्मी विद्या आश्रम जबलपुर की बहिन जयन्ती दीदी का अत्यधिक आभार मानते है आपने "स्तोत्रादि संग्रह" की प्रति अपने पुस्तकालय से कार्य समाप्ति तक के लिए प्रदान की। इस सन्दर्भ में अपने ज्येष्ठ भ्राता ब्र. जिनेश जी, श्री वर्णी दिग. गुरु कुल के कुशल संचालक को नहीं भुलाया जा सकता है। आपके सहयोग से जब जिस आवश्यक सामग्री की आवश्यकता पड़ी उसकी व्यवस्था यथा समय पर हो गई एवं भाई प्रदीप जी "पीयूष" जो जिनवाणी की सेवा में रत है तथा जनमानस तक शुद्ध, सस्ता साहित्य घर-घर तक पहुँचाने के लिए कृत संकल्पित हैं। उन्होंने भी इस पुस्तक के प्रकाशन में सहयोग प्रदान किया है। आप भी धन्यवादार्ह हैं। अंत में सहारनपुर निवासी उदारमना, सरल हृदय श्री अनुज जी जैन को भी हम लोग हार्दिक धन्यवाद देते हैं- आप के धन सहयोग से यह ग्रंथ जन-जन तक पहुँच रहा है- कामना करते हैं कि माता सरस्वती की यह निःस्वार्थ सेवा उनके पथ को प्रशस्त करेगी।

वीर जयन्ती
29.3.99

ब्र. विनोद जैन
ब्र. अनिल जैन

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

ग्रन्थ कर्ता का परिचय
आचार्य श्री गुरुदास

यह कौण्ड कुन्दान्वयी की नंदनंदी के शिष्य और श्री नंदीगुरु के चरण कमलों के भ्रमर थे, जिन्हें जीत शास्त्र (प्रायश्चित्त शास्त्र) में विदग्ध और सिद्धान्तज्ञ बतलाया है। वृषभनंदी ने जीतसार समुच्चय में लिखा है कि -

श्री नंदनन्दिवत्सः श्रीनंदि गुरुपदाब्ज-षट् चरणः ।
श्री गुरुदासोनंद्या तीक्ष्णमतिः श्री सरस्वती सूनुः ॥

इस श्लोक में गुरुदास को तीक्ष्णमती और सरस्वती सूनु लिखा है। वे बड़े भारी विद्वान और ग्रंथकर्ता थे। इनके द्वारा बनाया हुआ चूलिका सहित प्रायश्चित्त ग्रंथ अपूर्व रचना है। गुरुदास ने अपना कोई समय नहीं. दिया है। परन्तु जान पड़ता है कि गुरुदास विक्रम की दशवीं शताब्दी के उपान्त्य समय और 11वीं शताब्दी के पूर्वार्ध के विद्वान हैं।

भारतीय ज्ञानपीठ से प्रकाशित योगसार संग्रह अर्थात् ध्यानोपदेश कीं अंग्रेजी की प्रस्तावना में जो कि ए.एन. उपाध्याय के द्वारा लिखी गई है उसमें उन्होंने यह स्पष्ट लिखा है कि जिन गुरुदास ने ''प्रायश्चित चूलिका'' ग्रंथ लिखा है उन्हीं ने इस ध्यानोपदेश कोष को भी लिखा है क्योंकि 'प्रायश्चित चूलिका' का श्लोक 166 और ध्यानोपदेश का श्लोक 151 दोनों ही समान हैं। तथा आपने यह भी कहा कि श्री गुरुदास श्री नंदि गुरु के शिष्य थे।

श्री गुरुदास के द्वारा विरचित ''प्रायश्चित चूलिका'' नामक जो ग्रंथ उपलब्ध होता है - उस ग्रंथ भी प्रस्तावना में दिया गया परिचय निम्न प्रकार से है।

यह ग्रन्थ संस्कृत में और सटीक है। मूल ग्रन्थ की श्लोकसंख्या 166 है।

इस ग्रन्थ की प्रशस्ति में लिखा है :-

यः श्रीगुरुपदेशेन प्रायश्चितस्य संग्रहः ।
दासेन श्रीगुरोर्दब्धो भव्याशयविशुद्धये ॥1॥
तस्यैषाऽनूदिता वृत्तिः श्रीनन्दिगुरुणा हि सा ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

विरुद्धं यदभूदत्र तत्क्षाम्यतु सरस्वती ॥2॥

इससे मालूम होता है कि मूलग्रन्थ के कर्ता श्री गुरुदास हैं और वृत्ति के कर्त्ता श्री नन्दी गुरु हैं। 'दासेन' और श्रीगुरोः ये पद अलग अलग पड़े हुए हैं और इनका अर्थ यही होता है, कि श्री गुरु के दासने बनाया। आश्चर्य नहीं जो टीकाकारको मूलकर्त्ता का नाम न मालूम हो और उन्होंने साधारण तौर से यह लिख दिया हो कि यह श्री गुरु के एक दास का बनाया हुआ है और मैं इसकी वृत्ति रचता हूँ। और यदि 'श्री गुरुदास' यह नाम ही है तो इनके विषय में विशेष कोई इतिहास उपलब्ध नहीं होता है।

धाराधीश महाराज भोज के समय में श्रीचन्द्र नामक के एक विद्वान हो गये हैं। उनका 'पुराणसार' नाम का एक ग्रन्थ है। वह विक्रम संवत् 1070 का बना हुआ है। उसकी प्रशस्ति में उन्होंने लिखा है कि सागरसेन नामक आचार्य से महापुराण पढ़कर श्रीनन्दि के शिष्य मुझ श्रीचन्द्र मुनिने यह ग्रन्थ बनाया। इसी तरह आचार्य वसुनन्दिने अपने श्रावकाचार में भी एक श्रीनन्दी का उल्लेख किया है जो उनकी गुरुपरम्परामें थे। श्री नन्दि-नयनन्दि-नेमिचन्द्र और वसुनन्दि। वसुनन्दि का समय बारहवीं शताब्दि है, अतः उनके दादा गुरु के गुरु अवश्य ही उनसे 100 वर्ष पहले हुए होंगे और इस तरह संभवतः श्रीचन्द्र के गुरु और वसुनन्दि के परदादागुरु एक ही होंगे।

यदि प्रायश्चित्त टीका के कर्त्ता श्रीनन्दिगुरु और श्रीचन्द्र के गुरु श्रीनन्दि एक ही हों, तो कहना होगा कि यह टीका विक्रम की 11वीं शताब्दिकी बनी हुई है। और एसी दशा में मूल ग्रन्थ उससे भी पहले का बना हुआ होना चाहिए।

ध्यानोपदेशकोष (योगसारसंग्रहः) में आगत कुछ श्लोक ज्ञानार्णव ग्रंथ में "उक्तं च ग्रन्थान्तरे" कह कर उल्लिखित किये गये। इससे यह स्पष्ट सिद्ध होता है - श्री गुरुदास शुभचन्द्राचार्य के पूर्ववर्ती आचार्य हुये हैं।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

ध्यानोपदेशकोष (योगसारसंग्रह)

आचार्य श्री गुरुदास

विषय सूची

	श्लोकसंख्या	पृष्ठ संख्या
मङ्गलाचरण	1-4	1-3
प्रतिज्ञावचन	5	3-4
ध्यान करने की प्रेरणा	6	4-5
जगत के जीवों की विचित्र अवस्था	7-9	5-7
योगी प्रमाद रहित होकर संसार नाश करते हैं	10-11	7-9
गृहस्थावस्था में ध्यान का निषेध	12-15	10-12
अतीन्द्रिय और इन्द्रियसुख की तुलना	1 6-20	13-17
कामी प्राणी की अवस्था का विवेचन	22-24	17-20
दुःख सुख वासना से उद्भूत	25-26	20-21
संकल्प ही बंध-मोक्ष का कारण	26	21-22
इहलोक-परलोक में सुखार्थ ध्यान की प्रेरणा	28-29	22-23
मनोरोधकी उपादेयता	30	23-25
साम्यभाव से ही ध्यान सिद्धि	31-33	25-27
ध्यान और भावना का लक्षण	34	27
ध्यान का काल	35	28-29
ध्यानोपदेश कोष में विवेचित विषय	36	29
ध्यान के भेद व लक्षण	37-38	30-31
आर्त्त ध्यान के भेद व स्वामी	39-40	31-32
रौद्र ध्यान का फल व स्वामी	41-42	33-34
धर्म ध्यान के पूर्व भावित की जाने वाली भावनायें	43-4 8	34-37
ध्यान के योग्य स्थान	50	38-40
ध्याता व उपयोगी आसनों का विवेचन	51- 55	40-43
धर्मध्यान के भेद	56	43
आज्ञादि चार धर्मध्यानों के लक्षण	57-60	44-48
पदस्थध्यान का विवेचन	61-83	48-63

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

पदस्थ ध्यान का फल	84	63
रूपस्थ ध्यान विवेचना	88-97	66-70
शुद्ध ध्यान का फल	97	70
द्वादशानुप्रेक्षायों के लक्षण	98-110	70-79
भावनाओं का फल	111	79-80
हीन और उत्तम संहनन की विशेष विवेचना	113-117	81-84
धर्म ध्यान का फल	118-123	84-86
शुक्ल ध्यान के भेदों के लक्षण	123-138	86-93
सिद्धावस्था का विवेचन	141-143	94-95
ध्यान का महत्त्व	146-150	95-97
लघुता प्रदर्शन	151	98
अंतिम मङ्गलाचरण	152-157	98-101
गुरु परम्परा व ग्रन्थकार	158	101

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

संकेत सूची

ध ..../.......	धवला पुस्तक संख्या पृष्ठ संख्या
ज्ञा ..../.......	ज्ञानार्णव सर्ग संख्या/श्लोक संख्या
ज्ञा.सा. /.......	ज्ञानसार / गाथा संख्या
त. सा /.......	तत्त्वसार /गाथा संख्या
स्या.म /.......	स्याद्वादमंजरी / श्लोक संख्या
आ.प्र /.......	आत्मप्रबोध /श्लोक संख्या
त.शा /.......	तत्त्वानुशाशन /श्लोक संख्या
ह.पु /.......	हरिवंशपुराण सर्ग /श्लोक संख्या
भ.आ.मू /.......	भगवतीआराधना मूल /गाथा संख्या
स.सि ....../.......	सर्वार्थसिद्धि अध्याय संख्या /सूत्र संख्या
बृ.द्र.स /.......	बृहद्द्रव्यसंग्रह /गाथा संख्या
प्र.सा /.......	प्रवचनसार/गाथा संख्या
ध्यानश /.......	ध्यानशतक /गाथा संख्या
स.श्लो.स /.......	सर्वोपयोगीश्लोकसंग्रह/पृष्ठ संख्या
इ.उ.टी /.......	इष्टोपदेश टीका /श्लोक संख्या
मो.मा.प्र. /.......	मोक्षमार्ग प्रकाशक /अध्याय संख्या
वा.आ. /.......	बारस अणुवेक्खा/गाथा संख्या
स.श.टी/......	समाधिशतक/टीका /श्लोक संख्या
स.स्तो.टी./.......	स्यंभूस्तोत्र टीका /श्लोक संख्या
नि. सा./........	नियमसार/गाथा संख्या
त.सू./.........	त त्त्वार्थ सूत्र अध्याय संख्या /सूत्र संख्या
यो.द./..........	योगदर्शन अध्याय संख्या /सूत्र संख्या (महर्षि पताजालित कृत)

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

4822

ध्यानोपदेशकोषः

(योगसारसंग्रहः)

भद्रं भूरिभवाम्भोधिशोषिणे दोषमोषिणे ।
जिनेशशासनायास्तु कुशासनविनासिने ॥1॥

अन्वयार्थ - (भूरिभवाम्भोधिशोषिणे) अति विस्तृत संसार रूपी समुद्र को शोषण करने वाला **(दोषमोषिणे)** दोषों का मोषण करने वाला अर्थात् नष्ट करने वाला तथा **(कुशासन विनाशने)** मिथ्यावादियों के द्वारा स्वीकृत कुशासन को नाश करने वाला **(जिनेशशासनाय)** भगवान् जिनेन्द्र के द्वारा प्रतिपादित शासन के लिए **(भद्रं अस्तु)** मंगल हो ।

भावार्थ- "आ सामस्त्येनानन्तधर्मविशिष्टतया ज्ञायन्तेऽवबुद्ध्यन्ते जीवाजीवादयः पदार्था यया सा आज्ञा आगमः शासनं" - अर्थात् जिसके द्वारा सम्पूर्ण रूप से अनन्तानन्त धर्म विशिष्ट जीवाजीवादिक पदार्थ जाने जाते हैं वह आज्ञा या आगम शासन कहलाता है।[1] यह आगम क्षुधादि 18 दोषों से रहित तीर्थंकरों द्वारा प्रतिपादित है । वह भव्यजनों के अज्ञान से उत्पन्न होने वाले दुःख रूप संसार समुद्र को नाश करने वाला तथा जो अन्तरंग और बाह्य दोनों प्रकार के दोषों का अर्थात् अन्तरंग अज्ञानादिक दोष और बाह्य हिंसादि दोषों का नाश करने वाला है पुनः जो मिथ्यावादियों के द्वारा कल्पित 363 मतों का निराकरण करने वाला है। ऐसा जिन शासन जयवंत हो ।

इसी आशय को प्रकट करते हुये कहा भी है कि -

अर्च्यं मान्यं स्तुतं च त्रिभुवनपतिभिः सेवितं मुक्तिकामैः,
नित्यं सद्धर्मबीजं शरणमनुपमं दुःखसंत्रस्तपुंसाम् ।
पापघ्नं तत्वमूलं शिवसुखजनकं स्वर्गसोपानभूतं,
जीयान् नित्यं धरित्र्यां गुणगणसदनं शासनं तीर्थकर्तुः ॥

जो तीन लोक के स्वामियों के द्वारा अर्चनीय है, मान्य है, स्तुत है, मोक्षाभिलाषी जीवों के द्वारा सेवित है, नित्य है, समीचीन धर्म का बीज है, दुःख से भयभीत मनुष्यों का अनुपम शरण है, पापनाशक है, तत्त्व मूल का कारण है, शिवसुख का जनक है। स्वर्ग का सोपान है तथा गुणसमूह का भवन है ; ऐसा तीर्थंकर भगवान का शासन पृथ्वी

---

1. स्या.म./21

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

पर सदा जयवंत रहे ।[1]

संयमोद्दाममारामं श्रीगुरोः पादपङ्कजम् ।
वन्दे देवेन्द्रवृन्दोद्यन् मौलिमालाकरार्चितम् ॥2॥

अन्वयार्थ - (संयमोद्दामम्) उत्कृष्ट संयम के **(आरामं)** स्थान स्वरूप **(देवेन्द्रवृन्दोद्यन् मौलिमालाकरार्चितम्)** इन्द्रों के समूह के श्रेष्ठ मुकुटों की माला की किरणों से पूजित ऐसे **(श्री गुरोः)** श्री गुरु के **(पादपङ्कजम्)** चरण कमलों को **(वन्दे)** नमस्कार करता हूँ।

भावार्थ- इन्द्रिय विषय और अन्तरंग कषाय रूपी शत्रु को जीतनें के लिए जिन भव्यात्माओं ने उत्कृष्ट संयम को स्वीकार किया है अर्थात् पंचमहाव्रत, पंच समिति, तीन गुप्ति स्वरूप 13 प्रकार के चारित्र को धारण कर जो स्वपरोपकार में संलग्न है- वे गुरु कहलाते हैं। तथा जिन्होंने तीन लोक को मोहित करने वाले मोह को जीत लिया है - ऐसे समता के आयतन जिन्हें इन्द्रों के समूह भी नमस्कार करते हैं - ऐसे श्री गुरु के चरण कमलों की मैं अपने आत्मरस का पान करने के लिए वंदना करता हूँ।

योगीन्द्रो रुन्द्रयोगाग्निदग्धकर्मेन्धनोऽङ्गिनाम् ।
विश्वज्ञो विश्वदृश्वाऽस्तु मङ्गलंमङ्गलार्थिनाम् ॥3॥

अन्वयार्थ- (विश्वदृश्वा) विश्व को देखने वाले **(विश्वज्ञः)** विश्व को जानने वाले **(रुन्द्र)** तीव्र **(योगाग्नि)** ध्यान रूपी अग्नि से **(दग्धकर्मेन्धनः)** कर्मरूपी ईंधन को नष्ट करने वाले **(योगीन्द्रः)** तीर्थंकर भगवान **(मङ्गलार्थिनाम्)** मङ्गल के इच्छुक जीवों को **(मङ्गलं अस्तु)** मंगल स्वरूप होवे।

भावार्थ- शुक्लध्यान रूपी अग्नि के द्वारा जिन्होंने मोहनीय कर्म का नाश कर ज्ञानवारण , दर्शनावरण और अन्तराय कर्म इन चार कर्मों का नाशकर दिया है अर्थात् घातिया कर्मों के क्षय से जिनका अन्तरंग केवलज्ञान रूपी सूर्य के प्रकाश से आलोकित हो गया है तथा जिनके निमित्त से सहज ही भव्य जीव मोक्ष का मार्ग प्राप्त करते हैं ऐसे तीर्थंकर

1. स.श्लो.स./156

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

भगवान कल्याण के इच्छुक भव्य जीवों के लिए कल्याण रूप होवे। ऐसी आचार्य भगवान ने मंगल भावना प्रकट की है।

सद्वाग् वृत्तपदन्यास वर्णालङ्कारधारिणी ।
सन्मार्गाङ्गी सदैवास्तु प्रसन्ना नः सरस्वती ॥4॥

अन्वयार्थ - (सद्वाग्) श्रेष्ठवचन **(वृत्तपदन्यास वर्णालङ्कारधारिणी)** छन्द, वाक्य, वर्ण, अलङ्कारादि को धारण करने वाली **(सन्मार्गाङ्गी)** सन्मार्ग रूप अंग से सहित **(सरस्वती)** सरस्वती देवी **(सदैव)** सर्वदा **(नः)** हम लोगों पर **(प्रसन्ना)** प्रसन्न **(अस्तु)** होवे।

भावार्थ - भगवान जिनेन्द्र देव के द्वारा प्रतिपादित वचन प्रकृष्ट है क्योंकि वे वचन पूर्वा पर विरोधादि दोषों से रहित हैं, निरवद्य अर्थ का प्रतिपादन करने वाले हैं और विसंवाद से रहित हैं[1] तथा जो छन्द, वाक्य, वर्ण और अलंङ्कारादि काव्य के गुणों से संयुक्त है ऐसी दिव्य श्रुत वचन रूप सरस्वती देवी हम सभी पर प्रसन्न हो अर्थात् जिनवचन हम सभी को सन्मार्ग की ओर अग्रसर करे।

यस्माद् ध्यानं बुधैरिष्टं साक्षान्मोक्षस्य साधनम्।
अतो मोक्षार्थिभव्येभ्यस्तदेवास्माभिरुच्यते ॥5॥

अन्वयार्थ - (बुधैः) बुद्धिमानों के द्वारा **(साक्षान्मोक्षस्य साधनम्)** मोक्ष का साक्षात् साधन **(ध्यानं इष्टं)** ध्यान माना गया है। **(अतः)** इसलिये **(मोक्षार्थिभव्येभ्यः)** मुमुक्षु भव्य जीवों के लिए **(तदेव)** वह ही ध्यान **(अस्माभिरुच्यते)** मेरे द्वारा कहा जाता है।

भावार्थः- संसार से मुक्त होने के लिए भगवान के द्वारा निश्चय एवं व्यवहार मोक्षमार्ग का प्रतिपादन किया गया है।[2] निश्चय रूप सम्यग्दर्शन,

---

1. प्रकृष्टं वचनं प्रवचनम्। पूर्वापरविरोधादि दोषाभावात् निरवद्यार्थ-प्रतिपादनात् अविसंवादात् प्रकृष्टत्वम्। (ध 13 /280)
2. मोक्षहेतुः पुनर्द्वेधा निश्चयाद् व्यवहारतः ।
तत्राऽऽद्यः साध्यरूपः स्याद्द्वितीयस्तस्य साधनम् ॥

अर्थ :- मोक्षमार्ग निश्चयनय और व्यवहारनय के भेद से पुनः दो प्रकार है, जिनमें प्रथम निश्चय मोक्षमार्ग साध्यरूप है और द्वितीय व्यवहार मोक्ष मार्ग उस निश्चय मोक्ष मार्ग का साधन है। (त.शा. /28)

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

ज्ञान और चारित्र निश्चय मोक्ष मार्ग हैं अर्थात् अपने स्वरूप का श्रद्धान, ज्ञान और अपने स्वरूप में ही स्थिर हो जाना निश्चय सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र है। यह निश्चय रूप मार्ग साध्यभूत है तथा यह अभिन्न कर्त्ताकर्मादि विषय रूप है [1] तथा उस निश्चय मोक्षमार्ग की प्राप्ति में जो साधन रूप है। ऐसा व्यवहार मोक्षंमार्ग अर्थात् सम्यग्दर्शन- सच्चे देव, शास्त्र, गुरु पर श्रद्धान, सम्यग्ज्ञान-जीवादि सात तत्त्वों का ज्ञान, और अशुभ क्रियायों से निर्वृत्त होकर शुभ व्रतादि क्रियाओं में प्रवृत्त होना सम्यक्चारित्र इस प्रकार त्रिविध रूप व्यवहार मोक्षमार्ग जानना चाहिए।

यह दोनों ही प्रकार का मोक्षमार्ग ध्यान के द्वारा प्राप्त किया जाता है।[2] ध्यान के द्वारा कर्मों की निर्जरा होकर, आत्मा अपने स्वरूप में अवस्थान करती है। इसलिये ध्यान को साक्षात् मुक्ति का मार्ग कहा है। उसी ध्यान का स्वरूप जो भव्यजीव है उनके लिये में प्रतिपादन करूंगा। यह प्रतिज्ञा स्वरूप वचन आचार्य श्री ने यहाँ प्रकट किया है।

वैराग्यं दशधा धर्मो ध्यानाभ्यासोऽपवर्गदः ।
अतो मुमुक्षवो भव्या यतन्ते ध्यानसाधने ॥6॥

अन्वयार्थ-**(वैराग्यं)** वैराग्य **(दशधा धर्मो)** दश प्रकार का धर्म **(ध्यानभ्यासः)** ध्यान का अभ्यास **(अपवर्गदः)** मोक्षदायकअर्थात् मोक्ष का साधन **(मतः)** माना गया है। **(अतः)** इसलिये **(मुमुक्षवः)** मोक्ष के इच्छुक **(भव्याः)** भव्य जीव **(ध्यान साधने)** ध्यान साधन में **(यतन्ते)**

---

1. **अभिन्न कर्तृ-कर्मादि विषयों निश्चय नयः।**
अर्थ :- निश्चय नय अभिन्न कर्तृ-कर्मादि-विषयक होता है। (त.शा./29)

2 अ. **दुविहं पि मोक्खहेउ झाणे पाउणदि जं मुणी णियमा।**
तम्हा पयत्तचित्ता जूयं झाणं समब्भसह ॥
(द्र.स./47)

2 ब. **स च मुक्ति हेतुरिद्धो ध्याने यस्माद वाप्यते द्विविधोऽपि।**
तस्मादभ्यस्यन्तु ध्यानं सुधियः सदाप्यपास्या ऽऽलस्यम्॥

अर्थः वह निश्चय और व्यवहार रूप दोनों प्रकार का निर्दोष मुक्ति हेतु (मोक्षमार्ग) ध्यान से प्राप्त होता है। अतः हे सुधीजनों सदा ही आलस्य का त्याग कर ध्यान का अभ्यास करो।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

प्रयत्न करते हैं।

भावार्थ :- **"संसारदेहभोगेसु विरत्त भावों य वैरग्गं"** अर्थात् संसार, शरीर और भोगों से विरक्त होना वैराग्य कहलाता है।[1] आत्मा के गुण स्वरूप क्षमादि दश लक्षण रूप भाव धर्म कहलाते हैं। तथा पिड़स्थ, पदस्थ रूप ध्यान का अभ्यास मोक्ष के इच्छुक भव्यात्मों के लिए मोक्षदायक माना गया है। अतः भव्य जीव ध्यान के साधन स्वरूप[2] वैराग्य, क्षमादि दशधर्म तथा पदस्थादि ध्यान में उद्यम करते हैं।

तथा बृहद्द्रव्यसंग्रह में एक उद्धृत गाथा में ध्यान की सामग्री निम्न प्रकार से कही गई है -

वैराग्यं तत्त्वविज्ञानं नैर्ग्रन्थ्यं समचित्तता ।
परीषहजयश्चेति पञ्चैते ध्यान हेतवः ॥

अर्थ :- वैराग्य, तत्त्वों का ज्ञान, परिग्रह त्याग, साम्यभाव और परीषहजय ये पाँच ध्यान के कारण हैं।[2]

सर्वज्ञोपज्ञमाप्यापि दुर्लभं धर्ममङ्गिनः ।
प्रमादाद्धि प्रणश्यन्ति विचित्रा कर्मणां गतिः ॥7॥

अन्वयार्थ :- **(सर्वज्ञोपज्ञम्)** सर्वज्ञदेव के द्वारा प्रतिपादित **(दुर्लभं)** दुर्लभ **(धर्मं)** धर्म को **(आप्यापि)** प्राप्त करके भी **(अङ्गिनः)** संसारी प्राणी **(प्रमादात्)** प्रमाद से **(प्रणयन्ति)** नाश को प्राप्त होते हैं। **(हि)** निश्चय ही **(कर्मणां)** कर्मों की **(गतिः)** गति **(विचित्रा)** आश्चर्यकारी है।

भावार्थ :- जन्म-मरण रूपी चक्र से पीडित होकर संसारी प्राणी पंच प्रकार के परिवर्तनों से संसार परिभ्रमण किया करता है। दुलर्भता से उसे सर्वज्ञप्रणीत जिन धर्म की शरण प्राप्त होती है और उस जिन धर्म को प्राप्त करके भी ध्यान, स्वाध्यायादि में जीवन व्यतीत न कर यो हीं जीवन को प्रमाद से व्यतीत कर देता है। यथार्थ में कर्मों के कारण जीव चतुर्गति में भ्रमण रहे हैं कहा भी है कि -

वत्स ! कर्मवशाज्जीवः भवावर्ते भ्रमन्ति हि ।
अलभ्माना स्वात्मीयं भावं कर्म विनाशकम् ॥

हे वत्स! कर्मवश जीव कर्मों का क्षय करने वाले आत्मस्वभाव को न पाकर

1. बृ.द्र.स./35 2. वृ.द्र.स./57

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

संसार रूप भंवर में भ्रमण कर रहे हैं।[1]

सर्वसारं दुरावापं दुर्विज्ञेयं सुदुष्करम्।
आत्मधर्ममवाप्यापि दग्धभाग्यो विलम्बते ॥8॥

अन्वयार्थ - (सर्वसारं) सारभूत **(दुरावापं)** कठिनाई से प्राप्त होने वाला **(दुर्विज्ञेयं)** दुर्लभता से जानने योग्य **(सुदुष्करम्)** जिसको करना कठिन है ऐसे **(आत्मधर्मम् अवाप्यापि)** आत्मधर्म को प्राप्त करके भी **(दग्धभाग्यः)** हत भाग्य उसको (धर्म को) प्राप्त करने में **(विलम्बते)** देरी करता है।

भावार्थ - भगवान् कुन्द कुन्द ने भी इसी बात का स्पष्टीकरण करते हुये मोक्ष प्राभृत में कहा है कि- आत्मतत्त्व को जानना अत्यधिक दुष्कर है लेकिन बहुत पुरुषार्थ के फलस्वरूप किसी निकट भव्य ने आत्मतत्व को जान भी लिया तो उस आत्मतत्त्व की भावना करना और दुष्कर है और यदि भावना भी कर ली तो इन्द्रिय के विषयों से विरक्त होना और भी दुष्कर है।[2] आत्मधर्म ही संसार में सारभूत है- क्योंकि जीवनधारियों को जिन बाह्य पदार्थों का संयोग होता है उनका वियोग अवश्य होता है। लेकिन आत्म धर्म का कभी भी अभाव नहीं होता है। इसलिये आत्मधर्म को जानकर, उसकी प्राप्ति में विलम्ब करना योग्य नहीं है। तथा जो जीव उस आत्मधर्म को प्राप्त करने में विलम्ब करते हैं वे हत भाग्य हैं।

कर्मसमित्समु - द्भूत - कालानलकरालितम्।
प्रमादमदिरोन्मत्तं जाज्वलीति जगत्त्रयम् ॥9॥

अन्वयार्थ :- (कर्मसमित्) कर्मरूपी ईंधन से **(समुद्भुत)** उत्पन्न **(कालानल करालितम्)** काल रूपी अग्नि से व्याप्त। **(प्रमादमदिरोन्मत्तं)** तथा प्रमादरूपी मदिरा से उन्मत्त **(जगत्रयम्)** ऐसा यह तीन लोक

---

1. स.श्लो.सं/590
2. **दुक्खे णज्जइ अप्पा णाऊण भावणा दुक्खं।**
   भावियसहावपुरिसो विसएसु विरच्चए दुक्खं॥

अर्थ - आत्मा कठिनता से जाना जाता है, फिर जानकर उसकी भावना कठिनता से होती है, फिर आत्मस्वभाव की भावना करने वाला पुरुष कठिनता से विषयों से विरक्त होता है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

(जाज्वलीति) अतिशय रूप से जल रहा है।

भावार्थ- संसार के स्वरूप का दिग्दर्शन कराते हुये आचार्य महाराज कहते हैं कि तीन लोक के संसारी प्राणी जन्म-मरण से पीड़ित है और अंहकार, ममकार रूपी मोह मदिरा से उन्मत्त हो कर शारीरिक और मानसिक दुःखों से दग्ध हो रहे हैं। ऐसी विचित्र संसार की दशा है। जीवों का संसार में परिभ्रमण कैसे होता है ? इस सन्दर्भ में तत्वानुशासन में निम्न श्लोक निर्दिष्ट किये गये हैं-

मिथ्याज्ञानान्वितान्मोहान्ममाहंकार-संभवः ।
इमकाभ्यां तु जीवस्य रागोद्वेषस्तु जायते ॥
ताभ्यां पुनः कषायाः स्युर्नोकषायाश्च तन्मयाः ।
तेभ्यो योगाः प्रवर्तन्ते ततः प्राणिवधादयः ॥
तेभ्यः कर्माणि बध्यन्ते ततः सुगति-दुर्गति ।
तत्र कायाः प्रजायन्ते सहजानीन्द्रियाणि च ॥
तदर्थानिन्द्रियैर्गृह्णन्मुह्यति द्वेष्टि रज्यते ।
ततो बद्धो भ्रमत्येव मोह-व्यूह-गतः पुमान् ॥

अर्थ - मिथ्याज्ञान युक्त मोह से जीव के ममकार और अहंकार का जन्म होता है और इन दोनों से राग तथा द्वेष उत्पन्न होता है फिर इन दोनों से कषायें और नोकषायें उत्पन्न होती हैं, उन कषायों और नोकषायों से योग प्रवृत्त होते हैं और उन योगों के प्रवर्तन से प्राणी वधादिरूप हिंसादिक कार्य करते हैं , उन प्राणीवधादिक कार्यों से कर्म बंधते हैं कर्मों के बन्धन से सुगति तथा दुर्गति की प्राप्ति होती है कर्मों के वश उस सुगति या दुर्गति में जहाँ भी जीव को जाना होता है वहाँ शरीर उत्पन्न होता है और शरीर के साथ सहज ही इन्द्रियाँ भी उत्पन्न होती हैं , उन इन्द्रियों के विषयों को इन्द्रियों द्वारा ग्रहण करता हुआ जीव राग करता है, द्वेष करता है तथा मोह को प्राप्त होता है और इन राग-द्वेष-मोहरूप प्रवृत्तियों द्वारा नये बन्धनों से बँधता है। इस तरह मोह की सेना से घिरा तथा उसके चक्कर में फंसा हुआ यह जीव भ्रमण करता ही रहता है।[1]

कालानलमहाज्वाला - कलापपरिवारिताः।
मोहान्धाः शेरते विश्वे परं जाग्रति योगिनः ॥10॥

अन्वयार्थ - (विश्वे) संसार में (कालानलमहाज्वाला) काल रूपी अग्नि की महाज्वाला के (कलापपरिवारिताः) समूह से वेष्टित हुए

1. त.शा./16-19

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

(मोहान्धाः) मोह से अन्धे हुए प्राणीं **(शेरते)** सोते है **(परंयोगिनः जाग्रति)** किन्तु योगीजन जागृत रहते हैं।

भावार्थ- जन्म-मरण से दग्ध संसारी प्राणियों के संसार भ्रमण का मूल कारण मोह है अर्थात् मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र ही अपने स्वरूप का श्रद्धान, ज्ञान और आचरण नहीं करने देता है। इसलिये मोह उत्पत्ति के मुख्य हेतु ममकार[1] अंहकार[2] से पीड़ित प्राणी अपने स्वरूप के बोध से रहित होने के कारण अंध सदृश हैं क्योंकि अंधा जिस प्रकार किसी वस्तु के स्वरूप का यथार्थ निर्णय नहीं कर पाता है - उसी प्रकार मोहयुक्त प्राणी निज स्वरूप का यथार्थ निर्णय नहीं कर पाते हैं किन्तु जिन योगियों ने आत्मस्वरूप को जानने का प्रयत्न किया है - वे आत्मस्वरूप को प्राप्त करने के लिए निरन्तर तत्पर रहते हैं। जैसा कि ज्ञानार्णव ग्रंथ में कहा है कि -

भवभ्रमण विभ्रान्ते मोहनिद्रास्तचेतने।
एक एव जगत्यस्मिन् योगी जागर्त्यहर्निशम् ॥

अर्थ -संसार भ्रमण से विभ्रान्त और मोहरूपी निद्रा से जिसकी चेतना सुप्त हो गई है ऐसे इस जगत में मुनिगण ही निरंतर जागते हैं।[3]

जागृत योगी कैसे होते हैं ? और कहां निवास करते हैं ? इस सन्दर्भ में हृदय ग्राही श्लोक ज्ञानार्णव में निम्न प्रकार से कहा है -

यैः सुप्तं हिमशैलश्रृङ्गसुभगप्रासादगर्भान्तरे
पल्यङ्के परमोपधानरचिते दिव्याङ्गनाभिः सह।
तैरेवाद्य निरस्तविश्वविषयैरन्तःस्फुरज्जोतिषि
क्षोणीरन्ध्रशिलादिकोटरगतैर्धन्यैर्निशा नीयते ॥

---

1. **शश्वदनात्मीयेषु स्वतनु -प्रमुखेषु कर्मजनितेषु।**
आत्मीयाऽभिनिवेशो ममकारो मम यथा देहः ॥
2. **ये कर्म कृता भावा परमार्थ-नयेन चात्मनो भिन्नाः।**
तत्राऽऽत्माभिनिवेशीऽहंकारोऽहं यथा नृपतिः ॥

अर्थ :- सदा अनात्मीय ऐसे कर्मजनित स्वशरीादिक में जो आत्मीय अभिनिवेश है उसका नाम ममकार है जैसे मेरा शरीर। कर्मों के द्वारा निर्मित जो पर्यायें हैं। निश्चयनय से आत्माएं भिन्न हैं उनमें आत्मा को जो मिथ्या आरोप है उसका नाम अँहकार है जैसे मैं राजा हूँ। (त.शा. /14-15)

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अर्थः- जिन्होंने पूर्वावस्था में हिमालय के शिखरसमान सुंदर महलों में उत्कृष्ट उपधान हंसतुलिकादि से रची हुई शय्या में सुंदर स्त्रियों के साथ शयन किया था। वे ही समस्त संसार के विषयों के निरस्त करने वाले पुण्य शाली पुरुष अन्तरंग में ज्ञानज्योति के स्फुरण होने से पृथ्वी में , पर्वतों की गुफाओं में , शिलाओं पर अथवा वृक्ष के कोटरों में प्राप्त होकर रात्रि बिताते हैं, उन्हें धन्य है।[1]

बोधशुद्धान्तरात्मानः प्रमादपरिवर्जिताः ।
उन्मूलयन्ति कर्माणि योगिनो ध्यानवायुना ।।11।।

अन्वयार्थ - (बोधशुद्धान्तरात्मनः) ज्ञान की शुद्धि से जो अन्तरात्मा है अर्थात् सम्यग्ज्ञानी **(प्रमाद परिवर्जिताः)** और पूर्ण रूप से प्रमाद से रहित है ऐसे **(योगिनः)** योगी **(ध्यानवायुना)** ध्यान रूपी वायु से **(कर्माणि)** कर्मों को **(उन्मूलयन्ति)** नाश करते हैं।

भावार्थ- प्रशम, संवेग, अनुकम्पा और आस्तिक्यादि गुणों को धारण करने वाले सम्यग्दृष्टि योगी जीवादि सात तत्त्वों के स्वरूप के श्रद्धान के साथ ही शब्दाचार, अर्थाचारादि सम्यग्ज्ञान के आठ अङ्गों का परिपालन कर आगम से त त्त्वों के स्वरूप को विशेष रूप से जानकर, निर्दोष वैराग्य भावना से प्रमाद का पूर्णतः परिहरण करते हैं तथा मोक्ष के साक्षात् कारण ध्यान से कर्मों की असंख्यातगुणी निर्जरा कर, शाश्वत सिद्धपद को प्राप्त करते हैं।

आचार्य महाराज ने पूर्व श्लोकों में मोहदग्ध होकर जगत् का प्राणीसमूह दुःखी हो रहा किन्तु योगी जन सावधान चित्तहोकर, ध्यान रूपी वायु से कर्मों का नाश करते हैं यह भाव प्रदर्शित कर योगियों को ध्यान ही आलम्बन स्वरूप है ऐसा अभिप्राय व्यक्त किया है।

ज्ञानार्णव ग्रंथ में योगियों को ध्यान ही साध्यभूत है कहा भी है कि

भवक्लेश विनाशाय पिब ज्ञानसुधारसम्।
कुरु जन्माब्धिमत्येतुं ध्यानपोतावलम्बनम्।।

हे आत्मन्! तू संसार के दुःखों को विनाश करने के लिए ज्ञानरूपी सुधारस को पी और संसार रूप समुद्र से पार होने के लिए ध्यानकारी जहाज का अवलम्बन कर।[2]

---

1. ज्ञा. 5/25   2. ज्ञा. 3/12

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

कषायैरिन्द्रियैर्दुष्टै व्याकुलीक्रियते मनः ।
ततः कर्तुं न पार्येत भावना गृहमेधिभिः ।।12।।

अन्वयार्थ- (दुष्टैः कषायैरिन्द्रयैः) दुष्ट कषाय और इन्द्रियों के द्वारा **(मनः)** मन **(व्याकुलीक्रियते)** आकुलित किया जाता है **(ततः)** इसलिए **(गृहमेधिभिः)** गृहस्थ **(भावना)** ध्यान भावना **(कर्तुं न पार्येत)** करने में समर्थ नहीं है।

भावार्थ - इस श्लोक में गृहस्थावस्था में ध्यान का निषेध करतें हुये कहते हैं घर में इन्द्रिय विषयों की सामग्री की सम्मुखता होने के कारण चित्त विक्षिप्त हो जाता है और चित्त की एकाग्रता के अभाव में गृहस्थ ध्यान की भावना करने में असमर्थ होता है।

कहा भी है कि -

प्रतिक्षणं द्वन्द्वशतार्त्तचेतसां नृणां दुराशाग्रहपीड़ितात्मनाम् ।
नितम्बिनीलोचनचौरसङ्कटे गृहाश्रमे स्वात्महितं न सिद्ध्यति ।।

अर्थ :- सैकड़ों प्रकार के कलहों से दुःखितचित्त और धनादिक की दुराशारूपी पिशाची से पीड़ित मनुष्यों के प्रतिक्षण स्त्रियों के नेत्ररूपी चोरों का है उपद्रव जिसमें ऐसे इस गृहस्थाश्रम में अपने आत्महित की सिद्धि नहीं होती है।[1]

वह्निना चेत् प्रचाल्येत काठिन्यं कनकं यथा ।
स्वभावचपलैर्भ्रातृ - पुत्रदारादिभिर्न किम् ।।13।।

अर्थः- (चेत्) यदि **(यथा)** जिसप्रकार **(वह्निना)** अग्नि से **(काठिन्यं)** कठिन **(कनक)** स्वर्ण **(प्रचाल्येत्)** पिघल जाता है तो **(किम्)** क्या **(स्वभाव चपलैः)** स्वभाव से चंचल मन **(भ्रातृ-पुत्र दारादि भिर्न)** भाई, पुत्र, पत्नी के द्वारा चंचल नहीं होगा अर्थात् अवश्य होगा।

भावार्थः- आचार्य महाराज इस श्लोक के द्वारा यह दर्शाना चाहते है कि गृहस्थावस्था में उत्तम ध्यान की सिद्धि नहीं होती है क्योंकि चित्त स्वाभावतः चंचल होता है नाना ज्ञेयों में भ्रमण करने के कारण निरन्तर आकुलित रहता है- गृहवास में रागादि अध्यवसानों को उत्पन्न करने में निमित्तभूत सम्बन्धी जन और बाह्य परिग्रह के कारण चित्त की एकाग्रता

---

1. ज्ञा. 4/11

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अधिक समय तक संभव नहीं है। इसीलिये ध्यान की प्राप्ति के इच्छुक जीवों को कुटुम्बी जनों का संसर्ग त्याग करना चाहिये।

इस सन्दर्भ में ज्ञानार्णव के श्लोक भी दृष्टव्य हैं -

जेतुं जन्मशतेनापि रागाद्यरिपताकिनी ।
विना संयमशस्त्रेण न सद्भिरपि शक्यते ॥
प्रचण्डपवनैः प्रायश्चाल्यन्ते यत्र भूभृतः ।
तत्राङ्गनादिभिः स्वान्तं निसर्गतरलं न किम् ॥

अर्थः- संयमरूप शस्त्र के बिना सत्पुरुष भी एक जन्म की तो क्या, किन्तु सैकड़ों जन्मों में भी रागादिरूप शत्रुसेना को जीतने के लिए समर्थ नहीं होते हैं। जहाँ तीक्ष्ण वायु के द्वारा प्रायः करके बड़े-बड़े पर्वत विचलित कर दिये जाते हैं वहाँ क्या स्त्री आदि के द्वारा स्वभाव से चंचल अन्तःकरण क्या विचलित नहीं किया जाता है ? अवश्य किया जाता है। [1]

संसारभीरुभिस्तस्मात् प्राणिभिर्मोक्षकाङ्क्षिभिः।
गेहवासः परित्याज्यो धीरैर्ध्यानप्रसिद्धये ॥14॥

अर्थः- **(तस्मात्)** इसलिये **(मोक्षकाङ्क्षिभिः)** मोक्ष के इच्छुक **(संसार भीरूभिः)** तथा संसार से भयभीत **(धीरैः प्राणिभिः)** धीर प्राणियों के द्वारा **(ध्यानप्रसिद्धये)** ध्यान की सिद्धि के लिये **(गेहवास)** गृहवास **(परित्याज्यः)** छोडने योग्य है।

भावार्थः- गृहवास में परिग्रह, आरम्भ, विषय सामग्री की सम्मुखता, तथा कुटुम्बीजनों के निकट होने से चित्त में एकाग्र अवस्था उत्पन्न नहीं हो सकती है अतः मोक्षेच्छुक भव्य जीवों को चित्त की एकाग्रता के लिये गृहवास का त्याग करना ही योग्य है।

ज्ञानार्णवकार ने भी गृहस्थाश्रम में ध्यान की सिद्धि नहीं होती है- इस सन्दर्भ में कहा है कि-

खपुष्पमथवा श्रृङ्गं खरस्यापि प्रतीयते ।
न पुनर्देशकालेऽपि ध्यानसिद्धिर्गृहाश्रमे ॥

अर्थः- आकाश के पुष्प और गधे के सींग नहीं होते हैं। कदाचित् किसी देश वा काल में इनके होने की प्रतीति हो सकती है, परन्तु गृहस्थाश्रम में ध्यान की सिद्धि होनी तो किसी देश वा काल में संभव नहीं है। [2]

1. ज्ञा. 4/15-16 2. ज्ञा.4/17

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

गेहवासे कुतः सौख्यमाशापाशविपाशिते ।
विषयामिषलुब्धानां मोहदावाग्निदीपिते ॥15॥

अन्वयार्थ - (आशापाशविपाशिते) आशा रूपी बंधन से सहित **(मोहदावाग्निदीपिते)** मोह रूपी अग्नि जहाँ जल रही है ऐसे **(गेह वासे)** गृहवास में **(विषयामिषलुब्धानां)** विषय सुख रूपी मांस में आसक्त जीवों को **(सौख्यम्)** सुख **(कुतः)** कहाँ से मिल सकता है ?

भावार्थ- चारित्र मोहनीय कर्म के उदय से जीव के नाना प्रकार की इच्छायें उत्पन्न होती हैं उनमें मुख्यतः पंचेन्द्रिय-विषयों की है उन्हीं की प्राप्ति की अभिलाषा से चित्त व्याकुल रहता है। इन्द्रिय सुख कर्माधीन, पराधीन, अन्तसहित, विपाक उसका दुखरूप होने के कारण [1] तथा तृष्णा की वृद्धि का कारण होने से अनाकुल सुख प्राप्ति में बाधक है तथा प्रशम रूप सुख की उत्पत्ति भी परिग्रह के परित्याग करने पर ही होती है अतः गृहवास में परिग्रह, आरम्भ, विषयचाह और नाना प्रकार की अभिलाषाओं के कारण आत्म सुख की प्राप्ति असंभव है। बाह्य पदार्थ धनादि से संतोष सुख कभी भी प्राप्त नहीं होता है , इस विषय में कहा भी है-

धनेषु जीवितव्येषु स्त्रीषु भोजनवृत्तिषु ।
अतृप्ता मानवाः सर्वे याता यास्यन्ति यान्ति च ॥

अर्थ :- धन, जीवन, स्त्री और भोजन क्रिया में सब मनुष्य असंतुष्ट रहकर ही गये हैं, जावेंगे और जा रहे हैं इनके विषय में कभी किसी को संतोष नहीं हुआ।[2]

भ्रान्तं देशमनेक दुर्ग विषयं प्राप्तं न किञ्चित्फलं,
त्यक्त्वा जातिकुलाभिमानमुचितं सेवाकृता निष्फला।
मुक्तं मानविवर्जितं परगृहे साशङ्कया काकवत् ।
तृष्णे ! दुर्मति-पापकर्म निरते! नोऽद्यापि मां मुञ्चति॥

अर्थ :- अनेक पहाड़ और जंगलों से दुर्गम देश में घूमा, पर कुछ फल नहीं पाया। जाति और कुल के उचित अभिमान को छोड़कर सेवा की पर कुछ फल नहीं मिला और मान रहित होकर दूसरों के घर में कौए की तरह डरते-डरते भोजन किया। दुर्बुद्धि और पापकर्म में संलग्न हे तृष्णा! तू आज भी मुझे नहीं छोड़ रही।[3]

---

1. कर्म परवशे सान्ते दुःखैरन्तरितोदये ।
पापबीजे सुखऽनास्था श्रद्धानाकाङ्क्षणा स्मृता ॥ (र.क.श्रा./12)

2. स.श्लो.स/252 3.स.श्लो.स./254

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सर्वसङ्गविमुक्तानां सन्तोषामृतपायिनाम् ।
शमात्मकं सुखं यत्स्यात् कुतस्तद्भोगगृद्धितः ।।16।।

अन्वयार्थः- **(सर्वसङ्गविमुक्तानां)** सम्पूर्ण परिग्रह से रहित **(सन्तोषा मृत पायिनाम्)** संतोष रूपी अमृत को पीने वाले साधुओं को **(यत्)** जो **(शमात्मकं सुखं)** समतारूपी सुख **(स्यात्)** होता है। **(तत्)** वह सुख **(भोगगृद्धितः)** भोगों की आसक्ति से **(कुतः)** कहाँ से हो सकता है ?

भावार्थः- जीवों के जो अध्यवसान भाव उत्पन्न होते है वे वस्तु को अवलम्बन कर होते है ।[1] तथा उपाधि के सद्भाव में मूर्च्छा आरम्भ, असंयमादि परिणाम होते है जो स्वाभाविक सुख का घात करते है ।[2] जो ऋषि सम्पूर्ण उपधि से रहित हो जाते है तथा जिनका मन इन्द्रिय सुख की अपेक्षा से रहित हो जाता है उनके आकिंचन्य भाव की अनुभूति होनेके कारण संतोष क्षमा, मार्दवादि गुण प्रकट हो जाते हैं और उपयुर्क्त गुण जीव के स्वभाव होने के कारण अनाकुल अतीन्द्रिय सुख प्राप्ति में कारण होते है। इससे विपरीत भोगों में उत्पन्न सुख तृष्णा की वृद्धि का कारण होने से दुख रूप ही है। तो उनसे सुख की प्राप्ति कैसे संभव हो सकती है ?

संतोष से उत्पन्न होने वाला सुख, इंद्रादि की विभूति से भी उत्पन्न नहीं होता है कहा भी है कि-

---

1. **वत्थु पडुच्च जं पुण अज्झवसाणं तु होइ जीवाणं।**
ण य वत्थुदो दु बंधो अज्झवसाणेण बंधोत्थि ।।

अर्थः- जीवों के जो अध्यवसान है वह वस्तु के अवलम्बन से होता है वस्तु से बन्ध नहीं होता है। किन्तु अध्यवसान से ही बन्ध होता है।

(स.सा. /265)

2. **किध तम्हि णत्थि मुच्छा आरंभो वा असंजमो तस्स।**
तध परदव्वम्मि रदो कधमप्पाणं पसाधयदि ।।

अर्थः- उस परिग्रह की आकांक्षा रखने वाले पुरूष में मूर्च्छा- ममतापरिणाम आरम्भ तथा संयम का विघात किस प्रकार नहीं होता अर्थात् सब प्रकार से होता है तथा जो साधु परद्रव्य में रत रहता है वह आत्मा का प्रसाधन कैसे कर सकता है। आत्मा को उज्ज्वल कैसे बना सकता है ? (प्र.सा. /221)

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सन्तोष-पीयूषरसावसिक्त , चित्तस्य पुंसोऽत्र यदस्ति सौख्यम् ॥
सन्तोष हीनस्य न कौशिकस्य, न वासुदेवस्य न चक्रिणस्तत् ॥

अर्थ :- संतोष रूपी जल से अभिषिक्त चित्त वाले पुरुष को यहाँ जो सुख होता है, वह न संतोष रहित इन्द्र को, न नारायण को और न चक्रवर्ती को प्राप्त होता है।[1]

अध्यात्मजं निराबाधमात्मायत्तं भवेद् ध्रुवम् ।
अनुपमं सुखं पुंसां न तथा विषयात्मकम् ॥17॥

अर्थः- **(पुंसां)** प्राणियों को **(अध्यात्मजं)** आत्मा के आश्रय से उत्पन्न **(आत्मायत्तं)** स्वाधीन **(निराबाधं)** बाधा रहित **(ध्रुवम्)** शाश्वत **(अनुपमं)** उपमा रहित **(सुखं)** सुख **(भवेत्)** होता है **(तथा)** वैसा सुख **(विषयात्मकम्)** विषयों के सेवन से नहीं होता है।

भावार्थः- जो सुख इन्द्रियों से प्राप्त होता है वह परसम्बन्ध युक्त, बाधासहित, विच्छिन्न, बन्ध का कारण एवं विषम रूप इस प्रकार वह दुःख ही है।[2] इन्द्रिय विषय बिजली की चमक के समान चंचल है, तृष्णारूपी रोग की बृद्धि का एकमात्र हेतु है, तृष्णा की अभिवृद्धि निरन्तर ताप उत्पन्न करती है और वह ताप जगत् को अनेक दुःख परम्परा से पीड़ित करता है[3] तथा आत्मा में प्रकट होने वाला सुख स्वात्मानुभव में रति होने से, अन्य द्रव्य की अपेक्षा से राहित्यपना होने से बाधारहित निश्चल, अनुपम और ध्रुव आदि विशेषताओं से युक्त होता है इसलिये आत्मा आश्रित सुख की तुलना विषयसुख से नहीं की जा सकती है। इन्द्रिय सुख से आत्माश्रित अलौकिक सुख ही श्रेष्ठ है, इस संदर्भ में तुलनात्मक विषय भगवती आराधना में निम्न प्रकार से प्रस्तुत है -

---

1. स.श्लो.स./258
2 सपरं बाधासहिदं विच्छिण्णं बंधकारणं विसमं ।
 जं इंदियेहिं लद्धं तं सोक्खं दुक्खमेव तधा ॥ (प्र.सा/76)
3. शत ह्रदोन्मेष चलं हि सौख्यं, तृष्णामयाप्यायनमात्रहेतुः ।
 तृष्यामिवृद्धिश्च तपत्यजस्रं, तापस्यतदायासतीत्यवादी ॥
 स्व.स्तो. /13

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अप्पायत्ता अज्झपरदी भोगरमणं परायत्तं ।
भोगरदीए चइदो होदि ण अज्झप्परमणेण ॥
भोगरदीए णासो णियदो विग्घा य होंति अदिबहुगा ।
अज्झप्परदीए सुभाविदाए णासो ण विग्घो वा ॥

अर्थ :- स्वात्मानुभव में रति करने के लिए अन्य द्रव्य की अपेक्षा नहीं रहती है, भोग में रति में अन्य पदार्थों का आश्रय लेना पड़ता है। अतः इन दोनों रतियों में साम्य नहीं है भोगरति से आत्मा च्युत होने पर भी अध्यात्म रति से भ्रष्ट नहीं होता, अतः इस हेतु से भी अध्यात्म रति भोग रति से श्रेष्ठ है। भोग रति का सेवन करने से नियम से आत्मा का नाश होता है, तथा इस रति में अनेक विघ्न भी आते हैं। परन्तु अध्यात्म रति का उत्कृष्ट अभ्यास करने पर आत्मा का नाश भी नहीं होता और विघ्न भी नहीं आते हैं। अथवा भोगरति नश्वर तथा विघ्नों से युक्त है, पर अध्यात्म रति अविनश्वर और निर्विघ्न है।[1]

विषयामिषसेवायास्तृप्तिर्नैवोपजायते ।
केवलं पापबन्धः स्यान्नानादुःखखनिर्नृणाम् ॥18॥

अन्वार्यः- **(नानादुःखखनि)** अनेक दुखों की खदान **(विषयामिष सेवयाः)** विषय रूपी मांस का सेवन करने वाले **(नृणाम्)** जीवों को **(तृप्तिर्नैवोपजायते)** तृप्ति नहीं होती है। **(केवलं पापबन्धः स्यात्)** केवल पाप बंध ही होता है।

भावार्थः- जिस प्रकार अग्नि में धृत की आहुति देने पर दावानल उपशान्त नहीं होती प्रत्युत्तर वह अभिवृद्धि को ही प्राप्त हो जाती है उसी प्रकार विषय सेवन से तृप्ति की आकांक्षा करने वाले प्राणी की तृष्णा वृद्धिंगत तो हो जाती है किन्तु प्रशान्ता को प्राप्त नहीं होती है।[2]

---

1. भ.आ.मू./1269-1270
2. **तृष्णार्चिषः परिदहन्ति न शान्ति रासा , मिष्टेन्द्रियार्थ विभवैः परि वृद्धि रेव ॥**
स्थित्यैव कायपरितापहरं निमित्त, मित्यात्मवान् विषयसौख्य पराङ्मुखोऽभूत् ॥
अर्थः- विषयाकांक्षा रूप अग्नि की ज्वालाएँ इस जीव को सब ओर से जला रही है इष्ट इन्द्रियों के विषयों से इन विषयाकांक्षा रूप अग्नि की ज्वालाओं की शान्ति नहीं होती किन्तु सब ओर से वृद्धि ही होती है। यह वृद्धि इन्द्रिय विषयों के स्वभाव से ही होती है। निमित्त कारण मात्र शरीर के संताप को हरने वाला होता है विषयाकांक्षा रूप अग्नि ज्वालाओं का उपशमन करने वाला नहीं होता। हे भगवान् ! यह सब विचार कर ही जितेन्द्रिय होते हुए आप विषय जन्य सुख से पराङ्मुख हुए है।
(स्व. स्तो. /82)

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

तृष्णातुरः प्राणी विषय सुख पूर्ति के लिए विषय सामग्री तथा सामग्री के प्राप्ति के साधनों में आसक्त होने के कारण निरन्तर आर्त्तध्यान और रौद्रध्यान से पीड़ित होकर पाप बंध करता रहता है।

रागान्धबुद्धयो जीवाः सौख्याशाभिः वशीकृताः ।
सुखदातृन् प्रपश्यन्ति विषयान् विषसन्निभान् ॥19॥

अन्तार्थ :- **(रागान्धबुद्धयः जीवाः)** राग से अंधी है बुद्धि जिनकी ऐसे जीव **(सौख्याशाभिः वशीकृताः)** सुख की आशा से वशीभूत हैं वे **(विषसन्निभान्)** विष के समान **(विषयान्)** विषयों को **(सुखदातृन्)** सुख को देने वाले **(प्रपश्यन्ति)** मानते हैं।

भावार्थ :- चारित्र मोहनीय कर्म के उदय से व्यथित जीव पर द्रव्य से सुख की उत्पति मानते हैं। यथार्थ में यदि विचार किया जाय तो ज्ञात होता है विषय सेवन करते समय जीव अपने ही संकल्प और विकल्पों का ही भोग करता है अर्थात् अपने ज्ञान में ही नाना-प्रकारों की कल्पनाओं को जानता रहता है उन्हीं में इष्टता अनिष्टता की कल्पना कर सुखी-दुखी होता है। मोहासक्त जीव इस यथार्थ स्वरूप को नहीं जानने के कारण विषयसुखो में ही, लुब्ध हुआ भव परिभ्रमण करता है।

तदुद्भवमजानानो जनोऽन्यत्र समीप्सति ।
यदन्यत्र स्थितं वस्तु तदन्यत्र किमाप्यते ॥20॥

अन्वयार्थ :- **(तदुद्भवम् अजानानः)** सुख की उत्पत्ति को नहीं जाननें वाले **(जनः)** प्राणी **(अन्यत्र समीप्सति)** अन्य किसी स्थान पर सुख को चाहते है **(यत् वस्तु)** किन्तु जो वस्तु **(अन्यत्र स्थितं)** अन्यत्र स्थित है **(तत्)** वह वस्तु **(अन्यत्र)** अन्य जगह **(किमाप्यते)** कैसे प्राप्त हो सकती है ?

भावार्थ :- जिसप्रकार कूकर अस्थि का चर्वण करता हुआ ,अपने जबड़ों से आये हुए रक्त को हड्डी से जायमान मानता हुआ उसी में आसक्त रहता है। ठीक उसी प्रकार विषय सेवन करता हुआ प्राणी पर द्रव्य से सुख उत्पत्ति जानता हुआ उसी में तन्मय रहता है। यथार्थ में

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

यदि विचार किया जाय तो सुख निज आत्म स्वभाव से ही उत्पन्न होता है, क्योंकि सुख आत्मा का गुण है और गुण गुणी से कभी पृथक नहीं होता जैसे अग्नि की उष्णता अतः सुख को आत्मा से अन्यत्र खोजना मोहाविष्ट जीव की अज्ञान मय चेष्टा है।

उपर्युक्त विषय का स्पष्टीकरण मोक्षमार्ग प्रकाशक में निम्न प्रकार किया है-

जैसे कूकरा हाड़ चावै ताकरि अपना लोही निकसै ताका स्वाद लेय ऐसा माने, यहु हाड़नि का स्वाद है। तैसे यहु जीव विषयनि को जानै ताकरि अपना ज्ञान प्रवर्तै, ताका स्वाद लेय ऐसे मानै, यहु विषय का स्वाद है सो विषय में तो स्वाद है नाहीं। आप ही इच्छा करी थी ताको आप ही जानि आप ही आनन्द मान्या परन्तु मैं अनादि अनंतज्ञानस्वरूप आत्मा हूँ ऐसा निःकेवलज्ञान का तो अनुभव है नाहीं। बहुरि मैं नृंत्यु देख्या, राग सुन्या, फूल सूंघ्या, पदार्थ स्पर्शा, स्वाद जान्या तथा मोकौं यहु जानना इस प्रकार ज्ञेय मिश्रित ज्ञान का अनुभव है ताकरि विषय निकरि ही प्रधानता भासै है।[1]

यथार्थ में सुख पर पदार्थ से नहीं निज से ही प्राप्त होता है ऐसा निर्णय करना चाहिये।

आत्यन्तिकस्वभावोत्थानन्तज्ञानसुखः पुमान् ॥
परमात्माविपः कन्तुरहो माहात्म्यमात्मनः ॥21॥

अन्वयार्थ :- (अहो आत्मनः माहात्म्यं) अहो! आत्मा की महिमा आश्चर्यकारी है कि **(आत्यन्तिक-स्वभावोत्थानन्तज्ञानसुखः)** आत्यन्तिक अर्थात् अन्त अविनश्वर स्वभाव से उत्पन्न अनन्त ज्ञान और अनन्तसुख से परिपूर्ण यह **(पुमान्)** आत्मा ही **(परमात्मा)** परमात्मा (शिवतत्व), **(विपः)** विष्णु या गरुड़ तत्त्व और **(कन्तु)** कामदेव या कामतत्त्व है।

भावार्थ :- इस आत्मा की शक्ति अचिन्त्य है। नाना प्रकार के ध्यान से ही आत्मा परमात्मा, गरुड़ और कामदेव इत्यादि की सामर्थ्य को प्राप्त कर लेता है। आत्मा परमात्मा, गरुड़ और कामदेव इत्यादि को किस प्रकार ध्यान से उपलब्ध करता है - इस सन्दर्भ में ज्ञानार्णव में आगत ''त्रितत्त्व'' के विस्तृत वर्णन को अवश्य ही पढ़ना चाहिए।

जानन्नपि न जानाति पश्यन्नपि न पश्यति ।
विषयेषु विषक्तात्मा श्रृण्वन्नपि श्रृणोति न ॥22॥

---

1. मो.मा.प्र./3

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अन्वार्थ :- (विषेयेषु विषक्तात्मा) विषयों में आसक्त जीव **(जानन्नपि न जानाति)** जानता हुआ भी नहीं जानता है **(पश्यन्नपि न पश्यति)** देखता हुआ भी नहीं देखता है। **(श्रृण्वन्नपि न श्रृणोति)** सुनता हुआ भी नहीं सुनता है।

भावार्थ :-विषयासक्त जीव विषयासक्ति के कारण विषय सेवन के विपाक से उत्पन्न होने वाले दुःखों को जानते हुये, संसार में विषयातुरता से दुःखी प्राणियों को देखते हुये भी तथा विषयलोलुपी प्राणियों के दुष्परिणामों को सुनते हुये भी विषयों से विरक्त नहीं होता है ऐसी विचित्र अवस्था विषयासक्त जीवों की होती है। चारुदत्तादि के समान।

भोगों को दुखरूप जान कर भी, परित्याग करना अति दुष्कर है - इस संदर्भ में विषयी जीव की मानसिक स्थिति का वर्णन निम्न श्लोक में दृष्टव्य है-

निःसारा भयदायिनोऽसुखकरा भोगा सदा नश्वरा।
निन्द्यस्थान भवार्तिभाव जनका विद्याविदां निन्दिताः।
नेन्थं चिन्तयतोऽपि मे वत मतिर्व्यावर्तते भोगतः।
कं पृच्छामि कमाश्रयामि कमहं मूढः प्रपद्ये विधिम्।

ये भोग साररहित हैं, सदा दुःख देने वाले हैं, नश्वर हैं, निन्द्य स्थानों में उत्पत्ति के कारणभूत आर्त्तभावों के जनक हैं तथा ज्ञानी पुरुषों के लिए निन्दनीय हैं, मैं यद्यपि ऐसा विचार करता हूँ तो भी मेरी बुद्धि भोगों से व्यावृत्त नहीं होती। मैं मूर्ख किससे पूछूँ? किसका आश्रय लूँ और किस विधि उपाय को प्राप्त करूँ? जिससे भोगों से विरक्त हो जाऊँ।[1]

न वेत्ति किं करोमीति कामसंमूढमानसः।
बालिशः शिशुवन्नित्यं विधत्ते देहमण्डनम्॥23॥

अन्वयार्थ :- (कामसंमूढमानसः) कामासक्त प्राणी **(किं करोमि इति)** मैं क्या करता हूँ इस प्रकार **(न वेत्ति)** नहीं जानता है **(बालिशः)** मूढ़ अर्थात् अज्ञानी **(शिशुवत्)** बालक के समान **(नित्यं देहमण्डनम्)** हमेशा शरीर को सजाता रहता है।

भावार्थ :- इन्द्रिय-विषयों में आसक्त मनुष्य बालकवत् हिताहित के

---

1. स.श्लो.स. /582

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

विवेकज्ञान से रहित चेष्टाओं में रत रहता है वह नाशवान् देह को बलवान्, रूपवान् बनाने की चेष्टा में निरन्तर रत रहता है। ऐसी विचित्र अवस्था विषयासक्त जीव की होती है।

कामातुर प्राणी की मानसिक अवस्था कैसी होती है इस विषय में निम्न श्लोक पठनीय है -

दिग्मूढमथ विभ्रान्तमुन्मत्तं शङ्कितिाशयम् ।
विलक्ष्यं कुरुते लोकं स्मर-वैरीविजृम्भितम् ॥

अर्थ - कामरूपी बैरी का विस्तार मनुष्य को दिग्मूढ़, विभ्रान्त, उन्मत्त, शङ्कित हृदय और लक्ष्यहीन कर देता है।[1]

तावदेव सुखी जीवो यावन्न स्निह्यति क्वचित् ।
स्नेहबन्धनबद्धस्य दुःखमेव पदे पदे ॥24॥

अन्वार्थ :- **(जीवः)** जीव **(तावदेव सुखी)** तब तक ही सुखी है **(यावन्न क्वचित् स्निह्यति)** जब तक की कहीं स्नेह नहीं कर लेता है **(स्नेह बन्धन बद्धस्य)** क्योंकि स्नेह के बंधन से बद्ध व्यक्ति के **(पदे-पदे)** पद पद में **(दुःखमेव)** दुख ही है।

भावार्थ :- परद्रव्य में राग के कारण चित्त में संकल्प विकल्प की उत्पत्ति होती है इसलिये जब तक चित्त किसी भी पर पदार्थ में मोहादि भाव को प्राप्त नहीं होता है। तब तक आकुलता का अभाव होने के कारण जीव सुख का संवेदन करता है और ज्यों ही चित्त किसी पर पदार्थ से स्नेहयुक्त हो जाता है त्यों ही रागादि से उत्पन्न संकल्प विकल्पों के कारण जीव दुःखों की परम्परा को प्राप्त करता है। स्नेह रहित पुरुष सुखी रहते हैं और स्नेह युक्त पीड़ित रहते हैं। इस संदर्भ में निम्न श्लोक दृष्टव्य है -

निःस्नेहाः सुखिनः सन्ति पृथिव्यां बालुका यथा।
सस्नेहास्तत्र पीडयन्ते यथा तिलाश्च सर्षपाः॥

अर्थ :- पृथ्वी पर स्नेह (प्रीति) रहित मनुष्य ही सुखी हैं जैसे बालुका। स्नेह (तैल पक्ष में प्रीति) सहित पुरुष तो पीड़ित होते हैं, घानी में पेले जाते हैं जैसे तिल और सरसों।[2]

---

1. ज्ञा 11/25 2. स.श्लो.स. /336

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

स्नेह दुख का मूल है - कहा भी है कि

यत्र स्नेहो भयं तत्र स्नेहो दुःखस्य कारणम् ।
स्नेहमूलानि दुःखानि तस्मिन् स्नेहे कुतः सुखम् ॥

अर्थ :- जहाँ स्नेह है वहाँ भय है, स्नेह दुःख का कारण है, परमार्थ से दुःख स्नेहमूलक होते हैं। उस स्नेह में सुख कैसे हो सकता है ?[1]

न दुःखं न सुखं किंचित् संसारे परमार्थतः ।
वासनावासितो जन्तुः सुखं दुःखं च मन्यते ॥25॥

अन्वार्थ :- (परमार्थतः) परमार्थ से **(संसारे)** संसार में **(किंचित्)** किंचित् अर्थात् थोड़ा भी **(न दुःखं न सुखं)** न दुख है न सुख है **(वासना वासितः)** वासना के वश **(जन्तुः)** संसारी प्राणी **(सुखं दुःखं च)** सुख और दुख **(मन्यते)** मानते हैं।

भावार्थ :- परमार्थ से यदि विचार किया जाय तो संसार के पदार्थ सुख-दुखोत्पादक नहीं है - संसारी प्राणी अविद्यावश उन पदार्थों में इष्टता अनिष्टता की कल्पना कर लेता है क्योंकि एक ही घटपटादि पदार्थ में अपनी कल्पना के वश से किसी प्राणी को इष्टता आभास होती है और उसी घट पटादि में अन्य प्राणी को अनिष्टता प्रतिमासित होती है। यथार्थ में घट पटादि इष्ट अनिष्ट रूप नहीं हैं क्योंकि यदि घटपटादि इष्ट होते हैं तो सभी प्राणियों को इष्ट प्रतिमासित होते हैं और यदि अनिष्ट होते तो सभी प्राणियों अनिष्ट प्रतिमासित होते लेकिन लोक में ऐसा देखा नहीं जाता है।

वासना का स्वरूप समाधिशतक टीका में निम्नप्रकार उल्लिखित किया है-

शरारीदौ शुचिस्थिरात्मीयादि ज्ञानान्य विद्यास्तासाभ्यासः पुनःपुनः प्रवृत्तिस्तेन जनिताः संस्कारा वासनाः।

शरीरादि को शुचि, स्थिर और आत्मीय मानने रूप जो अविद्या अज्ञान है उससे पुनः पुनः प्रवृत्तिरूप अभ्यास से उत्पन्न संस्कार वासना कहलाते हैं।[2]

इष्टोपदेश में भी कहा है कि दुःख विभ्रम से उत्पन्न संस्कार मात्र है। जीव के स्वाभाविक भाव नहीं। चूंकि विभ्रम से उत्पन्न हुये है इसलिये इन्हें "वासना" भी कहते हैं[3] - जिन भावों से प्रेरित होकर पदार्थों में उपकारक-अपकारक की कल्पना जीव बनाये रखता है। ये वासना से उत्पन्न भाव परित्याग करने से निराकुल सुख

1. स.श्लो.स./336 2. स.श टी /37 3. इ.उ.टी./6

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

की उपलब्धि होती है।

दुःखितः सुखिनं पश्यन्नात्मानं सुखवान्न किम् ।
अन्यथा वैपरीत्येन तस्मात् संकल्पजं द्वयम् ।।26।।

अन्वयार्थ :- **(दुखितः)** दुखी प्राणी **(सुखिनं पश्यन्)** अन्य सुखी जीव को देखता हुआ **(आत्मानं)** आप **(सुखावान्)** सुखी **(किम्)** क्यों नहीं होता और **(अन्यथा वैपरीत्येन)** इससे विपरीत सुखी प्राणी दुखी प्राणी को देखता हुआ आप दुखी क्यों नहीं होता है , **(तस्मात्)** इसलिए **(द्वयम्)** सुख और दुख दोनों ही **(संकल्पजं)** मात्र संकल्प से उत्पन्न हुए जानना चाहिए।

भावार्थ :- सुख और दुःख जीव के अपने ही संकल्प विकल्पों के फलस्वरूप उत्पन्न होते हैं। सहस्रपति जब निर्धन व्यक्ति की ओर दृष्टिपात करता है। तब विचार करता है कि "मैं सुखी हूँ" और जब वही कोटिपति के ऊपर दृष्टिपात करता है । तब दुःख का अनुभव करता है अतः यह स्पष्ट है कि सुख-दुःख व्यक्ति के अपने संकल्प विकल्पों के आश्रित है।

पंचास्तिकाय टीका में संकल्प का स्वरूप निम्न प्रकार व्यक्त किया है-

बहिर्द्रव्येचेतनाचेतनामिश्रेममेदमित्यादि परिणामः संकल्पः।

चेतन, अचेतन एवं मिश्र, इन बाह्य पदार्थों में 'ये मेरे है' ऐसी कल्पना करना संकल्प है।[1]

तथा विकल्प का स्वरूप बृहद द्रव्य संग्रह में निम्नप्रकार निर्दिष्ट किया है -

अभ्यन्तरे सुख्यहं दुःख्यहमिति हर्षविषादकारणंविकल्प इति अथवा वस्तुवृत्त्या संकल्प इति कोऽर्थो विकल्प इति तस्यैव पर्यायः।

अन्तरंग मैं सुखी हूँ मैं दूखी हूँ इस प्रकार जो हर्ष तथा खेद का करना है वह विकल्प है अथवा वास्तव में जो संकल्प (पुत्र आदि मेरे है, ऐसा भाव) है, वही विकल्प है अर्थात् विकल्प, संकल्प ही पर्याय है।[2]

संकल्पोऽपि च जन्तूनां कारणं बन्धमोक्षयोः ।
वीतरागोऽपवर्गस्य रागो बन्धस्य कारणम् ।।27।।

1.प.क.ता.वृ /6 2. बृ.द्र.स.टी./41

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अन्वार्थ :- **(संकल्पोऽपि)** संकल्प भी **(जन्तूनां)** प्राणियों के **(बन्धमोक्षयोः)** बंध और मोक्ष का **(कारणं)** कारण है **(वीतरागः)** वीतराग संकल्प **(अपवर्गस्य)** मोक्ष का कारण है **(रागः)** राग रूप संकल्प **(बन्धस्य कारणम्)** बंध का कारण है।

भावार्थ :- आचार्य महाराज यहाँ यह भाव दर्शित करना चाहते हैं कि कांक्षारहित, निस्पृह परिणाम साक्षात् अनाकुलरूप होने से मोक्षदायक है और आशासहित चित्त आकुलता का कारण होने से कर्म बन्धन का उत्पादक है। कामना सहित-रहित अवस्था ही संसार बंधन और मुक्ति में कारण है।

इसी आशय को प्रकट करते हुये महर्षि कुन्दकुन्दाचार्य ने समयसार ग्रंथ में कहा है -

रत्तो बंधदि कम्मं मुंचदि जीवो विराग संपत्तो।

रागी जीव कर्म को बांधता है और वैराग्य को प्राप्त हुआ जीव कर्म से छूटता है -[1]

इहतः परलोके च वाञ्च्छद्भिः सौख्यमुत्तमम्।
ध्याने यत्नः प्रकर्तव्यस्तच्च चित्तनिरोधनम् ॥28॥

अन्वार्थ :- **(इहतः)** इस लोक **(च)** और **(परलोके)** परलोक में **(उत्तमम् सौख्यम्)** उत्तम सुख **(वाञ्च्छद्भिः)** चाहने वाले व्यक्तियों के द्वारा **(ध्याने)** ध्यान में **(यत्नः)** प्रयत्न **(प्रकर्तव्यः)** करने योग्य है। **(च)** और **(तत्)** वह ध्यान **(चित्तनिरोधनम्)** चित्तनिरोध रूप है।

भावार्थ :- जिन भव्यात्माओं को स्वाधीन, बाधारहित और शाश्वत सुख की चाह है उन्हें ध्यान का प्रयत्न करना चाहिए। चित्त वृत्ति का किसी एक पदार्थ के चिन्तवन में स्थिर होना ध्यान कहलाता है।

ध्यान ही आत्मा के लिए हितकारी है इस आशय को ज्ञानार्णव में निम्न श्लोक से प्रकाशित किया है -

मोक्षः कर्मक्षयादेव स सम्यग्ज्ञानतः स्मृतः।
ध्यानसाध्यं मतं तद्धि तस्मात्तद्धितमात्मनः ॥

अर्थ :- मोक्ष कर्मों के क्षय से ही होता है। कर्मों का क्षय सम्यग्ज्ञान से होता है

1. स.सा /150

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

और वह सम्यग्ज्ञान ध्यान से सिद्ध होता है, इस कारण ध्यान ही आत्मा का हित है।[1]

चित्तायत्तो ब्रजेज्जीवः कृष्टा सूचीव सूत्रतः ।
गतिस्तत्र मतिर्यत्र तत्कुर्यान्मनसः क्षयम् ॥29॥

अन्वार्थ :- **(चित्तायत्तः जीवः)** मन के अधीन हुआ जीव **(ब्रजेत्)** जहाँ मन जाता है वहाँ जाता है जैसे **(सूची इव सूत्रतः कृष्टा)** धागे से खींची हुई सुई, जिस ओर धागा जाता है उसी तरफ सुई खिंचती है उसी प्रकार **(यत्र मतिः)** जहाँ बुद्धि अर्थात् मन होता है **(तत्र गतिः)** वहीं गति होती है। इसलिए **(तत्)** उस **(मनसः)** मन का **(क्षयम्)** निरोध **(कुर्यात्)** करना चाहिए।

भावार्थ - ठीक उपर्युक्त श्लोक का अभिप्राय व्यक्त करते हुये समाधि शतक में कहा भी है -

यत्रैवाहितधीः पुंसः श्रद्धा तत्रैव जायते ।
यत्रैव जायते श्रद्धा चित्तं तत्रैव लीयते ॥
यत्रानाहितधीः पुंसः श्रद्धा तस्मान्निवर्तते ।
यस्मान्निवर्तते श्रद्धा कुतश्चित्तस्य तल्लयः ॥

अर्थ :- जिस किसी विषय में पुरुष की बुद्धि संलग्न होती है उसी विषय में उनको श्रद्धा उत्पन्न हो जाती है और जिस विषय में श्रद्धा उत्पन्न हो जाती है उस विषय में ही उसका मन लीन हो जाता है। जिस विषय में पुरुष की बुद्धि संलग्न नहीं होती है उससे रुचि हट जाती है दूर हो जाती है और जिससे रुचि हट जाती है चित्त की उस विषय में लीनता कैसे हो सकती है ? अर्थात् नहीं होती है।[2]

अविद्या के प्रभाव से चित्त सदा आर्त्त और रौद्र ध्यान से प्रेरित हुआ, व्याकुल रहता है। स्वाध्याय, सत्संग ध्यान आदि से मन आर्त्त और रौद्ररूप परिणामों को छोड़कर धर्मध्यान रूप परिणत हो जाता है जिससे आंशिक निराकुल सुख का संवेदन होता है। अतः निराकुल सुखार्थ मन को धर्मध्यान में लगाना चाहिये।

मनोरोधे भवेद्रुद्धं विश्वमेव शरीरिभिः ।
प्रायोऽसंवृत्तचित्तानां शेषरोधोऽप्यपार्थकः ॥30॥

अन्वार्थ :- **(शरीरिभिः)** जीवों के द्वारा **(मनोरोधे)** मनके रोध होने पर **(विश्वमेव)** विश्व का ही **(भवेद्रुद्धं)** निरोध हुआ समझना चाहिये

1. ज्ञा. 3/13 2. स.श./95-96

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

(प्रायः) प्रायः **(असंवृत्तचित्तानां)** चित्त का निरोध न हो तो **(शेषरोधः)** शेष रोध **(अपि)** भी **(अपार्थकः)** व्यर्थ है।

भावार्थ :- मन के निश्चली भूत होने पर सर्व विकल्प समूह नष्ट हो जाते हैं तथा विकल्प रहित निर्विकल्प, निश्चल, नित्य प्रकाशित शुद्ध स्वभाव में जीव स्थिर हो जाता है,[1] उससे असंख्यात गुणित कर्मों की निर्जरा कर जीव मोक्ष अवस्था को प्राप्त करता है और यदि मन का व्यापार निरोध को प्राप्त नहीं होता है तो जीव निरन्तर कर्मों का आस्रव करता रहता है अतः मनोरोध निराकुल सुख का उत्पादक होने से भव्यात्माओं के लिए अत्यन्त उपादेयभूत है। मनोरोध के अभाव में शेष कायरोध और वचन रोध व्यर्थ सिद्ध होते हैं।

तस्मान्मनोनिरोधाय रागद्वेषौ विवर्जयेत्।
साम्यभावितभावानां ध्यानसिद्धिर्ध्रुवं भवेत्॥31॥

अन्वार्थ :- **(तस्मात्)** इससे **(मनः)** मनके **(निरोधाय)** निरोध के लिए **(रागद्वेषो)** रागद्वेष को **(विवर्जयेत्)** छोड़ना चाहिए **(साम्यभावित भावानां)** साम्यभाव से भावित अर्थात् सहित है मन जिसका उस व्यक्ति के **(ध्रुवं)** निश्चय से **(ध्यान सिद्धिः भवेत्)** ध्यान सिद्ध होता है।

भावार्थ :- मन का निरोध करने लिए सर्वप्रथम शास्त्राभ्यास कर जीवादि सात तत्त्वों का श्रद्धान, और ज्ञान प्राप्त करना चाहिए। पश्चात् परिग्रह का परित्याग कर, बाह्य पदार्थों की आशा से रहित अपने सुखमयी (निज) स्वभाव में स्थिरता प्राप्त करना चाहिये जिससे नियम से उत्तम सुख की प्राप्ति होती है।[2]

---

1. **समणे णिच्चलभूए णट्ठे सव्वे वियप्पसंदोहे।**
   थक्को सुद्धसहावो अवियप्पो णिच्चलो णिच्चो॥

अपने मन के निश्चलीभूत होने पर सर्व विकल्प समूह के नष्ट होने पर मन विकल्प रहित निश्चल नित्य शुद्ध स्वभाव में स्थिर हो जाता है। (त.सा./7)

2. **एंदह्मि रदो णिच्चं संतुट्ठो होहि णिच्चमेदह्मि।**
   एदेण होहि तित्तो होहदि तुह उत्तमं सोक्खं॥

हे भव्य! तू निरन्तर ज्ञान में रत हो, इसी में निरन्तर संतुष्ट रह इसी से तृप्त हो क्योंकि ऐसा करने से तुझे उत्तम सुख होगा।

(स.सा./206)

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

जीव को साम्यभाव की प्राप्ति कैसे होती है ? इस सन्दर्भ में ज्ञानार्णव कार कहते है कि-

अशेष परपर्यायै-रन्यद्रव्यैर्विलक्षणम् ।
निश्चिनोति यदात्मानं तदा साम्यं प्रसूयते ॥

जिस समय यह आत्मा अपने को समस्त परद्रव्यों की पर्यायों से तथा पर द्रव्यों से विलक्षण भिन्न स्वरूप निश्चय करता है उसी समय साम्य भाव उत्पन्न होता है ।[1]

निश्चय ध्यान की सिद्धि के लिए द्रव्य संग्रह में भी कहा कि -

मा मुज्झह मा रज्जह मा दूसह इट्ठणिट्ठ अट्ठेसु।
थिरमिच्छहि जइ चित्तं विचित्तझाणप्पसिद्धीए ॥

हे भव्य जनो ! यदि तुम नाना प्रकार के ध्यान अथवा विकल्प रहित ध्यान की सिद्धि के लिये चित्त को स्थिर करना चाहते हो तो इष्ट तथा अनिष्ट रूप जो इन्द्रियों के विषय है उनमें राग द्वेष और मोह को मत करो। [2]

साम्यमेवादराद् भाव्यं किमन्यैर्ग्रन्थविस्तरैः ।
प्रक्रियामात्रमेवेदं वाङ्मयं विश्वमस्य हि ॥32॥

अन्वार्थ :- **(साम्यम् एव आदरात्)** साम्य भाव को ही आदर से **(भाव्यं)** भाना चाहिये **(अन्यैः)** अन्य **(ग्रन्थविस्तरैः)** अन्य ग्रन्थों के विस्तार से **(किम्)** क्या प्रयोजन है **(हि)** क्योंकि **(अस्य)** इस साम्यभाव का ही **(इदं विश्वं)** यह सम्पूर्ण **(वाङ्मयं)** वाङ्मय **(प्रक्रियामात्रम्)** प्रक्रियामात्र है अर्थात् साम्यभाव को प्राप्त करने की विधि है ।

भावार्थ :- वास्तव में चारित्र ही धर्म है। इस धर्म को शमरूप कहा गया है मोह व क्षोभ से रहित आत्मा का निर्मल परिणाम ही शम या समता रूप है ।[3] समता, माध्यस्थभाव, शुद्धभाव, वीतरागता, चारित्र, साम्य, धर्म और स्वभावाराधना -ये सब शब्द एकार्थक हैं ।[4] इस साम्य भाव की

---

1. ज्ञा. 24/17 2. बृ.द्र.स./

3, **चारित्तं खलु धम्मो धम्मो जो सो समोत्ति णिद्दिट्ठो।**
मोहक्खोहविहीणो परिणामो अप्पणो ही समो ॥7॥
(प्र.स. /7)

4. **माध्यस्थ्यं समतोपेक्षा वैराग्यं साम्यमस्पृहा ।**
वैतृष्ण्यं प्रशमः शान्तिरित्येकार्थोऽभि-धीयते ।
(त.शा./139)

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

उपलब्धि करने के लिये द्वादशांग रूप जिनवाणी का प्रणयन किया गया है। जिनवाणी की आराधना से सारभूत तत्व की प्राप्ति कर साम्यभाव में स्थित होने के लिए उद्यम करना चाहिए। साम्य भाव ही उत्कृष्ट ध्यान है- कहा भी है-

साम्यमेव परं ध्यानं प्रणीतं विश्वदर्शिभिः ।
तस्यैव व्यक्तये नूनं मन्येऽयं शास्त्र विस्तरः ।।

अर्थः- आचार्य महाराज कहते हैं कि सर्वज्ञ भगवान ने साम्यभाव को ही उत्कृष्ट ध्यान कहा है और यह जो शास्त्रों का विस्तार है वह निश्चयतः साम्यभाव को प्रगट करने के लिये है, ऐसा मैं मानता हूँ।[1]

साम्यादपि महाक्ष्वेडज्वरदुष्टजलग्रहाः ।
नियम्यन्तेऽपि शस्त्राद्याः साम्याद्विज्ञायतेऽखिलम् ।।33।।

अन्वयार्थ :- **(साम्यात् अपि)** साम्यभाव से ही **(महाक्ष्वेड)** महाविष **(ज्वरदुष्टजलग्रहाः)** ज्वर, दुष्ट जल जन्तु मगरमच्छ, शनि ग्रह और **(शस्त्राद्याः अपि)** शस्त्र आदि भी **(नियम्यन्ते)** नियम से शांत हो जाते है **(अखिलम्)** सम्पूर्ण अर्थात् सब कुछ **(साम्याद् विज्ञायते)** साम्य भाव से जाना जा सकता है। अर्थात् केवल ज्ञान की उत्पति में साम्भ भाव ही कारण है।

भावार्थ :- साम्य भाव की उपलब्धि हो जाने से जीव अन्तरंग और बहिरंग अर्थात् मानसिक द्वन्द तथा शारारिक व्याधियों से मुक्त हो जाता है। तथा पूर्णरूप से रागद्वेष के नष्ट हो जाने पर अर्थात् साम्यभाव में स्थिर हो जाने पर जीव ज्ञानावरणादि कर्मो की निर्जरा कर केवलज्ञान रूप सर्वज्ञ अवस्था को प्राप्त कर लेता है।

साम्यभाव से क्या प्राप्त नहीं हो सकता है- इस सन्दर्भ में ज्ञानार्णवकार कहते है-कि-

क्षुभ्यन्ति ग्रहयक्षकिन्नरनरास्तुष्यन्ति नाकेश्वराः ।
मुञ्चन्ति द्विपदैत्यसिंहशरभव्यालादयः क्रूरताम् ।
रुग्वैरप्रतिबन्ध विभ्रमभयभ्रष्टं जगज्जायते ।
स्याद्योगीन्द्र समत्व साध्य मथवा किं किं न सद्यो भुवि ।।

---

1. ज्ञा. 22/13

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अर्थ :- सममावयुक्त योगीश्वरों के प्रभाव से ग्रह, यक्ष, किन्नर मनुष्य ये क्षोभ को प्राप्त होते है और इन्द्रगण सन्तुष्ट होते हैं तथा हाथी, दैत्य, सिंह, अष्टापद , सर्प इत्यादि क्रूर प्राणी अपनी क्रूरता को छोड़ देते है और यह जगत रोग, बैर, प्रतिबन्ध, विभ्रम भयादिक से रहित हो जाता है। इस पृथ्वी पर ऐसा कौन सा कार्य है, जो योगीश्वरों के समभावों से साध्य न हों अर्थात् समभावों से सर्व मनोवांछित कार्य संभव हैं।[1]

एकचिन्तानिरोधो यस्तद्ध्यानं भावना परा ।
अनुप्रेक्षाऽथ चिन्ता वा तज्ज्ञैरभ्युपगम्यते ॥34॥

अन्वयार्थः- **(यः)** जो **(एकचिन्तानिरोधः)** एक चिन्ता का निरोध है **(तद्)** वह **(ध्यानं)** ध्यान है **(परा)** दूसरे जो **(भावना)** भावना **(अनुप्रेक्षा)** अनुप्रेक्षा का **(चिन्ता)** चिन्तन है ये भी उसी के भेद हैं अर्थात् ध्यान के पहले होने वाली अवस्था है **(तत् ज्ञैः)** उसको जानने वालों के द्वारा ऐसा **(अभ्युपगम्यते)** स्वीकार किया गया है।

भावार्थ :- जब विशुद्धबुद्धि का धारक योगी नाना आवम्बनों में बर्तने वाली चिन्ता को खींचकर उसे एक आलम्बन में ही स्थिर करता है अन्यत्र नहीं जाने देता तब उस योगी के ''चिन्ता का एकाग्र निरोधन'' नाम का योग होता है जिसे प्रसंख्यान, समाधि और ध्यान भी कहते है।[2] इसी अभिप्राय को ध्यानशतक में निम्न प्रकार से व्यक्त किया है स्थिर अध्यवसान को ध्यानं कहते हैं और जिसमें चित्त चलता रहता है उसे भावना, अनुप्रेक्षा तथा चिन्ता के रूप में निर्दिष्ट किया है।[3] यह ध्यान प्राप्ति के पूर्व की अवस्था जानना चाहिये।

---

1. ज्ञा. 21/23

2. **प्रत्याहृत्य यदा चिन्तां नानाऽऽलम्बनवर्तिनीम् ।**
एकालम्बन एवैनां निरूणद्धि विशुद्धधीः ॥
तदाऽस्य योगिनो योगश्चिन्तैकाग्रनिरोधनम् ।
प्रसंख्यानं समाधिः स्याद्ध्यानं स्वेष्ट-फल-प्रदम् ॥
(त.शा./60-61)

3 **जं थिरमज्झवसाणं जं झाणं जं चलं तयं चित्तं ।**
तं होज्ज भावणा व अणुपेहा व अहण चिंता ॥2॥
(ध . श./2)

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

छद्मस्थानामिदं ध्यानं भवेदन्तर्मुहूर्ततः ।
योगरोधो जिनेन्द्राणां कर्मौघध्यान्तभास्वताम् ।।35।।

अन्वार्थ :- **(इदं)** यह **(ध्यानं)** ध्यान **(छद्मस्थानां)** छद्मस्थजीवों के **(अन्तर्मुहूर्ततः भवेत्)** अन्तमुहूर्त के लिए होता है और **(कर्मोघध्वान्त भास्वताम्)** कर्मो के समूह रूप अंधकार को नाश करने के लिए सूर्य के समान **(जिनेन्द्राणां)** जिनेन्द्र देव का वह ध्यान **(योगरोधः)** योग निरोध रूप होता है।

भावार्थ :- जिन जीवों के ज्ञानावरणादि चार घातियाँ कर्मो का उदय वर्तमान है वे जीव छद्मस्थ कहलाते है।[1] उन छद्मस्थ जीवों का ध्यान एक वस्तु में अन्तमुहूर्त तक के लिए होता है अर्न्मुहूर्त के पश्चात् चिन्तन दूसरी वस्तु का अवलम्बन लेकर ध्यानान्तर के रूप में बदल जाता है और इस तरह बहुत वस्तुओं का संक्रमण होने पर ध्यान की सन्तान चिरकाल तक भी चलती रहती है।[2] इसलिये यदि कोई छद्मस्थ अधिक समय तक ध्यान में स्थित है तो उससे यह नहीं समझ लेना चाहिये कि वह एक वस्तु के ध्यान में अन्तर्मुहूर्त काल से अधिक समय तक स्थिर रहा, किन्तु यह समझना चाहिए कि उसका ध्यान काल अनेक ध्यानों का सन्तानकाल है। केवलियों के वह सम्भव नहीं है, क्योंकि उनके चित्त का अभाव हो चुका है केवली के जो क्रम से योगों का निरोध होता है-अभाव होता है। यही उनका ध्यान है।

एकत्व वितर्क अविचार नामक द्वितीय शुक्लध्यान के द्वारा ज्ञानावरणादि चार धातिया कर्मों के विनष्ट हो जाने पर जीव सर्वज्ञ व सर्वदर्शी हो जाता है, तब वह केवली कहलाता है। केवली भगवान अधिक

---

1. **छद्म ज्ञानादृगावरणे तत्र तिष्ठन्तीति छद्मस्था:।**
अर्थ :- छद्म ज्ञानावरण और दर्शनावरण को कहते है, उनमें जो रहते है उन्हें छद्मस्थ कहते हैं। (ध.1/189)

2. **अंतोमुहुत्तमेत्तं चित्तावत्थाणमगवत्थुंमि ।**
छउमत्थाणं झाणं जोगनिरोहो जिणाणं तु ।।3।।
अर्थ :- अन्तमुहूर्त काल तक जो एक वस्तु में चित्त का अवस्थान है वह छद्मस्थों का ध्यान है तथा योगों का जो निरोध है- उनका जो विनाश है वह जिनो (केवलियों) का ध्यान है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

से अधिक कुछ कम (आठ वर्ष व अन्तर्मुहूर्त कम) एक पूर्व कोटि काल तक इस जीवनमुक्त अवस्था में रह सकते हैं उनकी आयु जब अन्तर्मुहूर्त मात्र शेष रह जाती है तो वे उस समय मन व वचन योगों का पूर्ण रूप से निरोध करके बादर काययोग का भी निरोध कर देते हैं और सूक्ष्म-उच्छ्वास-निःश्वास रूप काययोग का आलम्बन लेकर सूक्ष्म क्रिया-अप्रतिपाति ध्यान के ध्याता होते हैं और जब तीनों योगों का पूर्णता निरोध हो जाता है तब योग से रहित हुए वे अयोग केवली शैलशी अवस्था को प्राप्त होते हुए व्युच्छिन्न क्रिया - अप्रतिपाति नामक चौथे ध्यान के ध्याता होते हैं - इससे जो श्वासोच्छ्वास के प्रचार रूप सूक्ष्म काय की क्रिया थी वह भी विनष्ट हो जाती है। साथ ही सम्पूर्ण कर्मों की निर्जरा हो जाती है और मोक्ष की प्राप्ति हो जाती है - इस प्रकार का योग - निरोध रूप ध्यान केवलियों के पाया जाता है।

ध्याता ध्यानं तथा ध्येयं फलं चेति चतुष्टयम्।
योगसंग्रहसारेऽस्मिन् गीयते योगिपुङ्गवैः ॥36॥

अन्वयार्थ :- (ध्याता ध्यानं तथा ध्येयं फलं) ध्याता, ध्यान, ध्येय और ध्यान का फल **(इति)** ये **(चतुष्टयम्)** चार **(योगिपुङ्गवैः)** योगियों मे श्रेष्ठ अर्थात् तीर्थंकर गणधर आदि के द्वारा **(अस्मिन्)** इस **(योगसंग्रहसारे)** योगसंग्रह सार में **(गीयते)** कहे गये है।

भावार्थ :- ध्यान के विषय का प्रतिपादन करने के लिए मुख्यतः से चार अधिकारों का निरूपण किया जाता है ध्याता, ध्यान, ध्येय, और ध्यान का फल। तथा तत्वानुशासन में ध्याता, ध्येय, ध्यान और ध्यान के फल का कथन निम्न प्रकार से किया है -

गुप्तेन्द्रियमना ध्याता ध्येयं वस्तु यथास्थितम्।
एकाग्रचिन्तनं ध्यानं निर्जरा संवरौ फलम् ॥

इन्द्रियों तथा मनोयोग का निग्रह करने वाला ध्याता कहलाता है यथावस्थित वस्तु ध्येय कही जाती है एकाग्र चिन्तन का नाम ध्यान है और निर्जरा तथा संवर दोनों धर्मध्यान के फल है।[1] इस ग्रन्थ में इन चारों का वर्णन विशेष रूप से किया गया है।

1. त.शा./38

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

आर्तं रौद्रं विदुर्धर्म्यंशुक्लं चात्रामलाशयाः ।
चतुर्धा ध्यानमन्वर्थं प्रत्येक तच्चतुर्विधम् ॥37॥

अन्वायार्थ :- **(अमलाशयः)** निर्मल आशय वाले योगी जनों ने **(अत्र)** यहाँ **(आर्तं रौद्रं धर्म्यशुक्लं च)** आर्त, रौद्र, धर्म और शुक्ल **(चतुर्धा)** ये चार **(ध्यानं)** ध्यान (**विदुः)** कहे है । **(अन्वर्यं)** सार्थक नाम वाले **(तच्च)** और वे ध्यान **(प्रत्येक चतुर्विघम्)** प्रत्येक चार-चार भेद वाले हैं ।

भावार्थ :- ''ऋते भवम् आर्त्तम्'' इस निरुक्ति के अनुसार दुःख में होने वाली संक्लिष्ट परिणति का नाम आर्त्तध्यान है।[1] हिंसादि रूप अतिशय क्रूरता युक्त चिन्तन को रौद्रध्यान कहते है ।[2] श्रुत और चारित्ररूप धर्म से युक्त ध्यान धर्मध्यान कहलाता है ।[3] तथा जो ध्यान ज्ञानावरणादि आठ प्रकार के कर्मरूप मल को दूर करता है अथवा शोक को नष्ट करता है उसे शुक्ल ध्यान कहा जाता है ।[4] इस सभी ध्यानों के चार-चार अवान्तर भेद जानना चाहिए। आगे इसी ग्रंथ में उनके नामादि का निरूपण किया जावेगा।

विषादामर्षशान्त्यादि-संज्ञेपात्तस्य लक्षणम् ।
मैत्रीप्रमोदकारुण्याः भावना भवभेदिकाः ॥38॥

अन्वायार्थ :- **(तस्य)** उस पूर्वोक्त ध्यान के **(विषादामर्षशान्त्यादि)** विषाद, वैर और शान्ति इत्यादि **(संक्षेपात्)** संक्षेप से **(लक्षणम्)** लक्षण हैं अर्थात् आर्त्तध्यान का लक्षण दुःख, रौद्र का वैर धर्मध्यान और शुक्लध्यान का लक्षण शान्ति है तथा **(भवभेदिकाः)** संसार का नाश करने वाली **(मैत्री प्रमोद करूण्याः)** मैत्री,प्रमोद कारूण्य **(भावना)** ये चार भावनायें है ।

भावार्थ :- चित्त में जिस ध्यान से मुख्यतः से पीड़ा रूप अथवा विशेष संक्लेश रूप परिणाम उत्पन्न होते है उस ध्यान को आगम में आर्त्तध्यान

1. ऋतं दुःखम्, तन्निमित्तो दृढ़ाध्यवसायः ऋते भवमार्त क्लिष्टमित्यर्थः। (ध. श/5
2. हिंसाद्यतिक्रौर्यानुगतं रौद्रम्। (ध. श/5)
3. श्रुत-चरणधर्मानुगतं धर्म्यम्। (ध. श/5)
4. शोधयत्यष्टप्रकारं कर्ममलं शुचं वा क्लमयतीति शुक्लम्। (ध. श/5)

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

से संज्ञित किया गया हैं। तथा जो ध्यान क्रूराशय को लिए हुए प्रकट होता है अथवा तीव्र विषयादिक सेवन रूप चित्त की परिणति रूप होता है वह रौद्र ध्यान है तथा जिन परिणामों के द्वारा जीव विशुद्धि को प्राप्त करता है तथा स्वरूप में अवस्थान करता है उन्हें धर्मध्यान और शुक्लध्यान कहा गया है। जिन भावनाओं के द्वारा चित्त की स्थिरता अथवा ध्यान की उपलब्धि करता है उन्हें मैत्री प्रमोद कारूण्य रूप शुभ भावना जानना चाहिये। इन भावनाओं को प्राप्त किये बिना ध्यान की उपलब्धि संभव नहीं है।

संयोगे यद्यनिष्टस्य समन्वाहरणं स्मृतेः ।
तद्वियोगार्थमाद्यार्त्तं मनोज्ञस्य विपर्ययात् ॥39॥

अन्वयार्थ :- **(यद्यनिष्टस्य)** यदि अनिष्ट का **(संयोग)** हो जाय तो **(तत्)** उसके **(वियोगार्थ)** वियोग के लिए **(स्मृतेः समन्वाहरणं)** स्मृति समन्वाहार करना **(आदि आर्त्तं)** प्रथम आर्त्त ध्यान है **(मनोज्ञस्य)** मनोज्ञ का **(विपर्ययात्)** इसके विपरीत अर्थात् इष्ट का वियोग होने पर कैसे इष्ट वस्तु का संयोग हो जाय इस प्रकार बार-बार स्मृति समन्वाहार करना, **(स्याद् द्वितीयः)** दूसरा इष्ट वियोग नाम का आर्त्त ध्यान है।

भावार्थ :- इस श्लोक में ग्रन्धकर्ता द्वारा आर्त्तध्यान के भेदों का विवेचन प्रारम्भ किया गया है। प्रथम अनिष्ट संयोगज आर्त्तध्यान का लक्षण इसप्रकार जानना चाहिए जिन अनिष्ट पदार्थ यथा सर्प, सिंह, शत्रु आदि जो इस जगत् में अपने स्वजन, धन, शरीर को नाश करने वाले हो उनके संयोग होने पर उनके विनाश के विकल्प बार-बार चिन्तवन करना प्रथम अनिष्ट संयोगज आर्त्तध्यान कहलाता है।[1] मनोज्ञ अर्थात् धन, धान्य,

1. **ज्वलनवनविषास्त्र व्यालशार्दूलदैत्यैः, स्थलजलविलसत्वैर्दुर्जनारातिभूपैः।**
स्वजनधनशरीरध्वंसिभिस्तैनिष्टैः, भवति यदिह योगादाद्यमार्त्तं तदेतत् ॥
ज्ञा. 25/25

1. **अशेषानिष्टसंयोगे तद्वियोगानुचिन्तनम् ।**
यत्स्यात्तदपि तत्त्वज्ञैः पूर्वमार्त्तं प्रकीर्त्तितम् ॥
अर्थ :- जो समस्त प्रकार के अनिष्ट पदार्थों के संयोग होने पर उनके वियोग होने का बारंबार चिन्तवन हो उसे भी तत्त्व के जानने वालों ने प्रथम अनिष्ट संयोग नामा आर्त्त ध्यान कहा है। **ज्ञा. 25/28**

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

स्त्री पुत्र आदि सुख के साधनभूत पदार्थों के वियोग होने पर उनकी प्राप्ति के लिए निरन्तर चिन्ता अर्थात् संकल्प करना इष्ट वियोगज आर्त्तध्यान कहलाता है।

स्याद् द्वितीयस्तृतीयश्च वेदनायां चतुर्थकम् ।
निदाने श्रावको ध्याता विरते तु विदुस्त्रयः ॥40॥

अन्वयार्थ :- (स्याद् द्वितीयः) इस पद का अर्थ पूर्व श्लोक में दिया गया है। **(तृतीयश्च वेदनायां)** पीड़ा चिंतन में तीसरा आर्त्त ध्यान होता है। **(चतुर्थकम्)** चौथा आर्त्त ध्यान **(निदाने)** निदान **(श्रावको ध्याता)** इनका ध्याता पंचम गुणस्थान वर्ती श्रावक है अर्थात् पंचम गुणस्थान तक ये चारों आर्त्त ध्यान होते हैं **(विरते तु त्रयः)** छटे गुणस्थान वर्ती प्रमत्त विरत में **(त्रयः विदुः)** निदान को छोड़कर तीन आर्त्त ध्यान जानना चाहिए।

भावार्थ - तृतीय आर्त्तध्यान का लक्षण इस प्रकार जानना चाहिए कि शूल व शिरोरोग आदि पीड़ा के होने पर उसके प्रतीकार के लिए व्याकुल मन होकर जो उनके वियोग के विषय में निरन्तर चिन्तन होता है तथा उक्त वेदना के किसी प्रकार से नष्ट हो जाने पर भविष्य में जो पुनः उसका संयोग न हो, इसके लिए जो चिन्ता होती है वह पीड़ा चिन्तन नामक आर्त्तध्यान कहलाता है। आगामी भोगों की आकांक्षा का नाम निदान है। जिस संयम व तप आदि के द्वारा शाश्वतिक सुख के स्थान स्वरूप मोक्ष की प्राप्ति हो सकती है उस संयम व तप के फलस्वरूप स्वर्गीय सुख, इन्द्र पद, चक्रवर्ती, बलदेव आदि प्राप्ति का चिन्तवन करना निदान नामक चतुर्थ आर्त्तध्यान है। ध्यान के स्वामी की अपेक्षा विषय प्रतिपादन करते हुये आचार्य महाराज कहते हैं कि चारों आर्त्तध्यान पंचम गुणस्थान तक और छट्टे गुणस्थान तक निदान को छोड़कर तीन आर्त्तध्यान कभी कदाचित् प्रमाद की तीव्रता वश संभव होते हैं।[1]

---

1. **प्रमत्तसंयतानां तु निदानवर्ज्यमन्यदार्त्तत्रयं प्रमादोदयोद्रेकात्कदाचित्स्यात्।** स.सि. 9 / 34

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

फलं तिर्यग्गतिरस्य रौद्रस्य नारकी गतिः
संयतासंयतो ध्याता सम्यगदृष्टिरपीष्यते ॥41॥

अन्वयार्थ :- (अस्य) इस आर्त्त ध्यान का **(फलं)** फल **(तिर्यग्गतिः)** तिर्यंच गति है। **(रौद्रस्य नारकी गतिः)** रौद्र ध्यान का फल नरकगति है **(ध्याता)** इस रौद्र ध्यान के स्वामी **(संयतासंयताः)** संयतासंयत **(सम्यग्दृष्टिरपीष्यते)** सम्यग्दृष्टि भी जानना चाहिए अर्थात् प्रथम गुणस्थान से लेकर पंचम गुणस्थान तक रौद्र ध्यान के स्वामी कहे गये हैं।

भावार्थ - आर्त्त ध्यान एवं रौद्रध्यान का कारण एवं उसके फल बतलाते हुए ध्यान शतक में कहा है कि -

एयं चउव्विहं राग-दोस-मोहं कियस्य जीवस्स ।
अट्टज्झाणं संसारबद्धाणं तिरियगइमूलं ॥

यह प्रकार चार प्रकार का आर्त्तध्यान राग (आसक्ति), द्वेष (अप्रीति) और मोह (अज्ञान) से लांछित (कलुषित) प्राणी के होता है, जो तिर्यंचगति का मूलकारण होने से संसार को बढ़ाने वाला है [1] और रौद्र ध्यान के विषय में भी कहा है कि-

एयं चउव्विहं राग-दोष-मोहउलस्य जीवस्स ।
रोद्दज्झाणं संसारवद्धाणं नरयगइमूलं ॥

यह चार प्रकार का रौद्र ध्यान राग, द्वेष और मोह से व्याकुल जीव के होता है। रौद्र ध्यान सामान्य से जीव के संसार को बढ़ाने वाला है तथा विशेष रूप से वह नरकगति का मूल कारण है।[2]

चार प्रकार का रौद्रध्यान प्रथम गुणस्थान से पाँचवे गुणस्थान तक होता है, आगे के प्रमत्त संयत आदि गुणस्थानों में नहीं होता है।

हिंसायामनृते स्तेये विषयेष्वथ रक्षणे ।
जीवस्योत्पद्यते शश्वत् कषायकलुषस्य तत् ॥42॥

अन्वयार्थ :- (हिंसायाम् अनृते स्तेये विषयेषु अथ रक्षणे) हिंसा, झूठ, चोरी और विषय अर्थात् परिग्रह के रक्षण में **(कषायकलुषस्य)** कषाय से कलुषित **(जीवस्य)** जीव के **(तत्)** वह रौद्र ध्यान **(शश्वत्)**

---

1. ध.श./10 2. ध.श./24

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

हमेशा **(उत्पद्यते)** उत्पन्न होता है।

भावार्थ - इस प्रकार आर्त्तध्यान का निरूपण करके अब आगे रौद्र ध्यान के भेदों का विवेचन किया गया है - वह हिंसानुबन्धी, मृषानुबन्धी, स्तेयानुबन्धी और विषय संरक्षणानुबंधी के भेद चार से प्रकार का है। ये चारों ही ध्यान क्रमशः हिंसा, झूठ, चोरी और इन्द्रिय विषयों के कारण-भूत धन के संरक्षण रूप भावों से जीवों में उत्पन्न होते हैं।

ध्यान शतक में रौद्र ध्यान के विषय में कहा भी है कि -

सद्दाइविसयसाहणधणसारक्खणपरायणमणिट्ठं ।
सव्वाभिसंकणपरोवघायकलुसाठलं चित्तं ॥

अर्थ :- शब्दादिरूप इन्द्रियविषयों का कारण धन है। इसी से विषयासक्त जीव का चित्त उस धन के संरक्षण में उद्यत रहता है। उसके मन में सबके प्रति यह सन्देह बना रहता है कि न जाने कौन कब क्या करेगा ? इस प्रकार का जो उसका कलुषित विचार रहता है, यह चौथा रौद्र ध्यान है। अनिष्ट रूप होने के कारण - आत्महितैषी सत्पुरुष उसकी कभी इच्छा नहीं करते हैं।[1]

रागाद् द्वेषान्ममत्वाद्वा ये मया हा विराधिताः।
क्षमन्तु जन्तवस्ते मां तेभ्यो मृष्याम्यहं पुनः ॥43॥

अन्वयार्थ :- **(रागाद् द्वेषात् ममत्वाद् वा)** राग से, द्वेष से अथवा मोह से **(ये)** जो **(जन्तवः)** जन्तु **(मया)** मेरे द्वारा **(विराधिताः)** विराधिता अर्थात् पीड़ित हुये हों **(ते)** वे **(मां)** मुझ को **(क्षमन्तु)** क्षमा करें **(अहम्)** मैं **(पुनः)** बारबार **(तेभ्यः)** उनके लिये **(मृष्यामि)** क्षमा करता हूँ।

भावार्थ -आर्त्त, रौद्र ध्यानों का वर्णन करने के अनन्तर धर्मध्यान के पूर्व भावित की जाने वाली भावनाओं का इस श्लोक में वर्णन किया गया है। सर्वप्रथम अहिंसा की उत्कृष्ट भावना भानी चाहिये जिसमें पूर्वकृत प्रमादजन्य हिंसा का पाश्चाताप करते हुये सभी जीवों से क्षमा याचना और सभी को क्षमा करना चाहिये। जिसके फलस्वरूप जीव के परिणामों में मृदुता और विशुद्धता प्रकट होती है।

मनसा वपुषा वाचा कृतकारितसंमतैः ।
रत्नत्रयभवं दोषं गर्हे निन्दामि वर्जये ॥44॥

---

1. ध.श. /22

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अन्वयार्थ :- **(मनसा)** मन से **(वपुषा)** शरीर से **(वाचा)** वचन से **(कृतकारितसम्मतैः)** कृत, कारित, अनुमोदना से **(रत्नत्रय)** रत्नत्रय में जो **(दोषं)** दोष **(भवं)** हुए हूँ उनका मैं **(गर्हे निन्दामि)** गर्हा करता हूँ निंदा करता हूँ एवं उन दोषों को **(वर्जये)** त्याग करता हूँ।

भावार्थ - पूर्व कथित भावनाओं के पश्चात् रत्नत्रय की निर्दोषता कायम रखने के लिए रत्नत्रय में लगे हुये अतिचारों का शोधन करने के लिए दोषों की मन, वचन और काय तथा कृत, कारित और अनुमोदना से आलोचना करना चाहिए अर्थात् वर्तमान में लगे हुये दोषों की आलोचना और अतीत में कृत पापों का प्रतिक्रमण एवं प्रत्याख्यान-आगामी काल में दोषों को नहीं करूँगा इस प्रकार प्रतिज्ञा करके समस्त दोषों से मुक्त होकर निर्मल परिणामों को धारण करना चाहिये।

मधुरोऽम्लः कटुस्तिक्तः कषायो लवणं तथा ।
अशनादि चतुर्भेदाहारस्त्यक्तो मयाऽधुना ||45||

अन्वयार्थ :- **(मधुरः अम्लः कटुः तिक्तः कषायः तथा लवणं)** मधुर, अम्ल, कटुक, तिक्त, कसैला तथा लवण इन पाँच प्रकार के रसों युक्त **(अशनादि चतुर्भेदः)** खाद्य आदि चारों प्रकार का आहार **(मया)** मेरे द्वारा **(अधुना)** इस समय **(त्यक्तः)** त्याग किया जाता है।

भावार्थ :- विशुद्धि में वृद्धि करने हेतु पूर्व कथित भावनाओं के अनन्तर चारों प्रकार के आहार का प्रत्याख्यान करके आहार सम्बन्धी विकल्पों से भी मुक्त होना चाहिये। पश्चात् ध्यान करने वाला निम्न प्रकार से भावनाओं को करे।

नाहं देवो मनुष्यो वा नैव तिर्यङ् न नारकः।
सिद्ध एव विशुद्धात्मा सर्वं कर्मविनिर्मितम् ||46||

अन्वयार्थ :- **(नाहं देवो)** न मैं देव हूँ **(वा नैव तिर्यङ मनुष्यः न नारकः)** न मनुष्य हूँ न तिर्यञ्च हूं न नारकी हूँ किन्तु **(सिद्ध एव विशुद्धात्मा)** सिद्ध के ही समान विशुद्धात्मा हूँ **(सर्व कर्मविनिर्मितम्)** शेष सभी मनुष्यादि पर्यायें कर्म द्वारा रचित है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

भावार्थ :- समस्त सावद्य कार्यों का परित्याग करने के पश्चात् शुद्ध आत्मस्वरूप की भावना भानी चाहिये। कर्म के निमित्त से जो देव, मनुष्यादि पर्यायें उत्पन्न होती है, यथार्थ में मैं सभी पर्यायों से रहित तथा द्रव्यकर्म, भावकर्म से रहित सिद्धों के सदृश विशुद्धात्मा हूँ। इस प्रकार शुद्धनय की अपेक्षा से आत्मा के शुद्ध स्वरूप का चिन्तवन करना चाहिये।

कर्मजं भावमुत्सृज्य संप्रपद्ये स्वभावजम् ।
आत्मैव केवलोऽहं मे, ज्ञानदर्शनवैभवः ।।47।।

अन्वयार्थ :- (कर्मजं भावम् उत्सृज्य) कर्म से उत्पन्न हुए भावों को छोड़कर **(स्वभावजम् संप्रपद्ये)** स्वभाव से उत्पन्न भावों को प्राप्त करता हूँ **(अहं केवलः आत्मा एव)** मैं केवल आत्मा ही हूँ **(ज्ञान दर्शन मे वैभवः)** ज्ञान दर्शन मेरा वैभव है।

भावार्थ :- पूर्वोक्त भावना को दृढ़ करने के लिए पुनः इस प्रकार चिन्तवन करें - द्रव्यकर्म के निमित्त को पाकर जो मुझ में नाना औपाधिकभाव (रागादि रूप परिणाम) उत्पन्न हो रहे हैं, होते हैं वे सभी मेरे आत्मस्वभाव से अत्यन्त भिन्न है मैं तो स्वसंवेदन रूप ज्ञान दर्शन गुण वाला शुद्ध जीव तत्त्व हूँ। इस प्रकार शुद्ध द्रव्यार्थिक नय अपेक्षा से विचार करना चाहिए।

द्रव्य संग्रह में भी इसी आशय को व्यक्त करते हुये निम्न गाथा प्रस्तुत की गई है।

मग्गणगुणठाणेहि य चउदसहि हवंति तह असुद्धणया,
विण्णेया संसारी सव्वे सुद्धा हु सुद्धणया ।।

अर्थ :- संसारी जीव अशुद्ध नय से चौदह मार्गणास्थानों से तथा चौदह गुण्स्थानों से चौदह चौदह प्रकार से होते हैं और शुद्ध नय से तो सब संसारी जीव शुद्ध ही हैं।[1]

एतामास्थां समास्थाय साम्यभावितभावनः ।
ध्यानमालम्बते धर्म्यं शुक्लं वाथ यथाबलम् ।।48।।

अन्वयार्थ :- (एतामास्थां) इस प्रकार पूर्वोक्त आत्म भावना में

---

1. बृ.द्र.स./47

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

(समास्थाय) स्थिर होकर के **(साम्यभावित भावनः)** समता भाव से भावना को जिसने भाया है ऐसा पुरुष **(यथाबलम्)** यथाशक्ति **(धर्म्यं वाथ शुक्लं)** धर्म अथवा शुक्ल **(ध्यानमालम्बते)** ध्यान का अवलम्बन लेता है।

भावार्थ :- उपर्युक्त प्रकार से ध्याता अपनी आत्मा को अन्य शरीरादिक से वस्तुतः भिन्न निश्चित करके और समता भाव के अवलम्बन से निराकुल रूप धर्म और शुक्ल ध्यान को प्राप्त होता है।

समभाव की भावना से ध्याता को क्या लाभ होता है इस सन्दर्भ ज्ञानार्णव ग्रंथ का निम्न श्लोक दृष्टव्य हैं।

आशाः सद्यो विपद्यन्ते यान्त्यविद्याः क्षयं क्षणात् ।
म्रियते चित्त भोगीन्द्रो यस्य सा साम्यभावना ॥

अर्थ :- जिस पुरुष के समभाव की भावना है उसके आशाएं तो तत्काल नाश हो जाती हैं, अविद्या क्षणभर में क्षय हो जाती है, उसी प्रकार चित्तरूपी सर्प भी मर जाता है अर्थात् भ्रमण से रहित हो जाता है। यही समभावना का फल है।[1]

तथा ''ज्ञानार्णव'' में कहा भी है, कि सम भाव बिना ध्यान सिद्ध नहीं होता है

सदैव संयमी साक्षात्समत्वमवलम्बते ।
स्यात्तदैव परं ध्यानं तस्य कर्मौघघातकम् ॥

अर्थ :- जिस समय संयमी साक्षात् समभाव का अवलंबन करता है, उसी समय उसके कर्म समूह का घात करने वाला ध्यान होता है।[2]

सत्संयमधरो धीरः सत्संहतिरनाकुलः ।
परीषहजिदुत्साही मुक्तदेहादिबन्धनः ॥49॥

अन्वयार्थ :- ध्यान करने वाला ध्याता **(सत्संयमधरः)** श्रेष्ठ संयम को धारण करने वाला **(धीरः)** धीर **(सत्संहतिः)** उत्तम संहनन युक्त **(अनाकुलः)** आकुलता से रहित **(परीषहजित्)** परीषह को जीतनें वाला **(उत्साही)** उत्साह युक्त **(युक्तदेहादिबन्धनः)** देहादि के बंधन से रहित होता है।

भावार्थ :- ध्यान का स्वरूप निरूपण करने के पश्चात् आचार्य महाराज ध्याता कैसा होना चाहिए ? उसका विवेचन प्रारम्भ करते है। उत्तम

1. ज्ञा. 24/11 2. ज्ञा. 25/4

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

ध्याता पंचमहाव्रत रूप संयम को धारण करने वाला, धीर, उत्तम संहनन युक्त, अनाकुल, परीषह को जीतने वाला, उत्साहवान देहादि में निर्ममत्व भाव को धारण करने वाला होना चाहिये।

ध्याता के स्वरूप के विषय में "तत्त्वानुशासन" में भी कहा कि ध्याता निम्न गुणों से सम्पन्न हो।

सम्यग्निर्णीतजीवादिध्येयवस्तुव्यवस्थितिः ।
आर्त्त रौद्रपरित्यागाल्लब्धचित्तप्रसक्तिकः ॥
मुक्तलोकद्वयापेक्षः सोढाऽशेषपरीषहः ॥

जिसने जीवादि ध्येय वस्तु को भले प्रकार निर्णीत कर लिया हो, आर्त्त और रौद्र ध्यानों के परित्याग से जिसने चित्त की प्रसन्नता प्राप्त की हो, जो इस लोक और परलोक दोनों की अपेक्षा से रहित हो, जिसने सभी परीसहों को सहन किया हो।[1] इत्यादि विशेषताओं से युक्त होना चाहिए।

ज्ञानार्णव में भी ध्याता के लक्षण निम्न प्रकार कहे गये हैं -

मुमुक्षुर्जन्मनिर्विण्यः शान्तचित्तो वशी स्थिरः ।
जिताक्षः संवृतो धीरो ध्याता शास्त्रे प्रशस्यते ॥

मुमुक्ष हो, संसार से विरक्त हो, शान्तचित्त हो, मन को वश करने वाला हो, शरीर व आसन जिसका स्थिर हो, जितेन्द्रिय हो, चित्त संवर युक्त हो, (विषयों में विकल न हो) धीर हो, अर्थात् उपसर्ग आने पर न डिगे ऐसे ध्याता की ही शास्त्रों में प्रशंसा की गयी है।[2]

ध्याता न होने योग्य व्यक्ति के विषय ज्ञानार्णव में कहा है -

जो मायाचारी हो, मुनि होकर भी जो परिग्रहधारी हो , ख्याति लाभ पूजा के व्यापार में आसक्त हो, इन्द्रियों का दास हो, विरागता को प्राप्त न हुआ हो। ऐसे साधुओं को ध्यान की (प्राप्ति) नहीं होती है।[3]

शून्यवेश्मगिरीन्द्रोरु- गुहागह्वरमध्यगः ।
विविक्त विजनारण्य - निराबाधप्रदेशभाक् ॥50॥

अन्वयार्थ :- **(शून्य वेश्म)** शून्य गृह **(गिरीन्द्र)** पर्वत **(ऊरू गुहा)** विस्तृत गुफा **(गह्वर मध्यगः)** दुर्गमस्थान के मध्य **(विविक्त विजनारण्य)** एकांत, निर्जन वन ऐसा **(निराबाध प्रदेश भाक्)** बाधा रहित प्रदेश ध्यान

---

1. त.शा./ 43-44 2 . ज्ञा. 4/6
3. (ज्ञा 4/32, 33, 35, 42, 44 भा.)

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

के योग्य है।

भावार्थ :- ध्यान की स्थिरता एवं सिद्धि के लिए ध्याता को ध्यान के लिए योग्य देश, काल, भावादि भी अत्यधिक आवश्यकता है - इस श्लोक में ध्यान के योग्य क्षेत्र का निरूपण करते हुये आचार्य महाराज कहते हैं कि शून्यागार (खाली घर) पर्वत, विस्तृत गुफा, निर्जनवन तथा चित्त में क्लेश उत्पन्न न करने वाला स्थान ध्यान के लिए प्रशंसनीय कहा गया है।

ज्ञानार्णव में ध्यान योग्य क्षेत्र का निरूपण निम्न प्रकार किया है -

सिद्धक्षेत्रे महात्तीर्थे पुराणपुरुषाश्रिते ।
कल्याणकलिते पुण्ये ध्यानसिद्धिः प्रजायते ॥
सागरान्ते वनान्ते वा शैलश्रृङ्गान्तरेऽथवा ।
पुलिने पद्मखण्डान्ते प्राकारे शालसंकटे ॥
सरितां संगमे द्वीपे प्रशस्ते तरुकोटरे ।
जीर्णोद्याने श्मशाने वा गुहागर्भे विजन्तुके ॥
सिद्धकूटे जिनागरे कृत्रिमेऽकृत्रिमेऽपि वा ।
महर्द्धिकमहाधीरयोगिसंसिद्धवाञ्छिते ॥

सिद्ध क्षेत्र, पुराण पुरुषों द्वारा सेवित महातीर्थ क्षेत्र, कल्याणक स्थान, सागर के किनारे पर वन, पर्वत का शिखर, नदी के किनारे, कमलवन, प्राकार (कोट) शाल वृक्षों का समूह, नदियों का संगम, जल के मध्य स्थित द्वीप, वृक्ष के कोटर, पुराने वन, श्मशान, पर्वत की गुफा, जीवरहित स्थान, सिद्धकूट, कृत्रिम व अकृत्रिम चैत्यालय, ऐसे स्थानों में ही सिद्ध अवस्था प्राप्त करने की इच्छा करने वाले मुनि ध्यान की सिद्धि करते हैं। तथा धवला टीका ध्यान के योग्य स्थान का कथन निम्न प्रकार किया गया है।[1]

जो जत्थ समाहाणं होज्ज मणोवयण कायजोगाणं।
भूदोवघायरहिओ सो देसोज्झायमाणस्स ॥
णिच्चं वियाजुवइपसूणवुंसयकुसीलवज्जियं जइणो।
ट्ठाणं वियणं भणियं विसेसदो ज्झाणकालम्मि ॥

मन, वचन व काय का जहाँ समाधान हो और जो प्राणियों के उपात से रहित हो वही देश ध्यान करने वालों के लिए उचित है। जो स्थान श्वापद, स्त्री, पशु, नपुंसक और कुशील जनों से रहित हो और जो निर्जन हो, यति जनों को विशेष रूप से ध्यान के समय ऐसा ही स्थान उचित है।[2]

ध्यान करने वाले मुनि को निम्न स्थानों का परित्याग करना चाहिए। इसका

1.ज्ञा. 28/1....4 2.ध. 13/66

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

निरूपण ज्ञानार्णव में निम्न प्रकार से हैं।

म्लेच्छाधमजनैर्जुष्टं दुष्टभूपालपालितम् ।
पाखण्डिमण्डलाक्रान्तं महामिथ्यात्ववासितम् ॥
कौलिकापालिकावासं रुद्रक्षुद्रादिमन्दिरम् ।
उद्भ्रान्तभूतवेतालं चण्डिकाभवनाजिरम् ॥
पण्यस्त्रीकृतसंकेतं मन्दचारित्रमन्दिरम् ।
क्रूरकर्माभिचाराढ्यं कुशास्त्राभ्यासवञ्चितम् ॥

ध्यान करने वाले मुनि को निम्न स्थानों का परित्याग करना चाहिए - इसका निरूपण ज्ञानार्णव में निम्न प्रकार से किया गया है। म्लेच्छ व अधम जनों से सेवित, दुष्ट राजा से रक्षित, पाखण्डियों से आक्रान्त, महामिथ्यात्व से वासित, कुलदेवता या कापालिक (रुद्र) आदि का वास व मन्दिर जहाँ कि भूत वेताल आदि नाचते हों अथवा चण्डिका देवी के भवन का आंगन, व्यभिचारिणी स्त्रियों के द्वारा संकेतित स्थान, कुचारित्रियों का स्थान, क्रूरकर्म करने वालों से संचारित, कुशास्त्रों का अभ्यास या पाठ आदि जहाँ होता हो ।

ऐसा स्थान ध्यानी को परित्याग करना चाहिए।

सद्बोधवार्धिनिर्धौत - शुद्धबुद्धिर्दयार्द्रधीः ।
वीतरागोमहामोहमल्लघातजयोद्यतः ॥51॥
यः प्रमत्तोऽप्रमत्ताख्यः सद्यो जातःस्वरूपभृत् ॥
उर्ध्वस्थितो निषण्णो वा पर्यङ्कादिभिरासनैः ॥52॥
पर्यङ्कदेशमध्यस्थः प्रोत्तानकरकुड्मलः ॥
ऋज्वायततनुः शान्तो रौद्रार्तपरिवर्जितः ॥53॥

अन्वयार्थ :- **(सद्बोधवार्धिः निर्धौत शुद्ध बुद्धिः)** सम्यग्ज्ञान रूपी समुद्र में धोकर पवित्र किया है बुद्धि को जिसने **(दयार्द्रधीः)** दयालु **(वीतरागः)** राग से रहित **(महामोह मल्लघातजयोद्यतः)** तथा जो महामोह रूपी मल्ल को घात करके विजय पाने में उद्यत है तथा **(यः)** जो **(प्रमत्तः अप्रमत्ताख्यः)** प्रमत्त और अप्रमत्तनामक छटवें सातवें गुणस्थान वाला **(सद्योजातः)** यथाजात **(स्वरूपभृत)** स्वरूप को धारण करने वाला **(ऊर्ध्वस्थितः)** खड्गासन से स्थित हो **(वा)** अथवा **(पर्यङ्कादिभिः आसनैः)** पर्यङ्कादि आसनों से **(निषण्णः)** आसीन है तथा

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

(प्रोत्तानकरकुड्मलः) जिसने अपने वायें हाथ पर दायें हाथ को **(पर्यङ्कदेशमध्यस्थः)** पर्यङ्कासन के बीच में रखा है **(ऋज्वायततनुः)** शरीर को सीधा तथा लम्बा किया है एवं जो **(शांतः)** शांत है **(रौद्रार्तपरिवर्तितः)** आर्त्त रौद्र ध्यान से रहित है ऐसा ध्याता होता है।

भावार्थ :- जिसके द्वारा यथार्थ रीति से वस्तु जानी जाय उसे सम्यग्ज्ञान कहते हैं। ध्याता को सम्यग्ज्ञानी होना इसलिए आवश्यक है क्योंकि चित्त में ध्यान करते समय नाना प्रकार के संकल्प -विकल्प उत्पन्न होते हैं। वे विकल्प चित्त में चंचलता उत्पन्न कर ध्यान का नाश कर देते हैं। सम्यग्ज्ञान के बल से ध्याता उन उठने वाले संकल्प विकल्प का निराकरण कर सकता है। तथा ध्याता को संसार के कारणभूत मूल मोहनीय कर्म को नाश करने के लिए निरन्तर उद्यम करते रहना चाहिए। जो यथा जात स्वरूप को धारण करने वाला साधु अर्थात् प्रमत्त और अप्रमत्त गुणस्थानवर्ती, आर्त्त रौद्र ध्यानों का परित्याग कर धर्मध्यान का ध्याता होता है वह कायोत्सर्ग, पर्यङ्कासन, इत्यादि चित्त में संक्लेश न उत्पन्न करने वाली आसनों पर आसीन होकर ध्यान करता है। तत्त्वानुशासन में मुख्य और उपचार के भेद से ध्याता के दो भेद किये हैं - चतुर्थ और पंचम गुणस्थानवर्ती उपचार से धर्मध्यान के ध्याता बतलाये गये है। 6-7 गुणस्थानवर्ती मुख्य रूप से ध्याता बतलाये हैं। साधु को यथा ज्ञात रूप अर्थात् नग्नत्व धारण करना चाहिए क्योंकि किंचित् परिग्रह भी संकलेश का कारण बन जाता है।

आचेलक्य गुण के धारक साधु क्यों होते हैं ? दिगम्बरत्व का मुख्य हेतु क्या है ? इस संदर्भ में पद्मनंदीपंचविशतिका का निम्न श्लोक दृष्टव्य है -

म्लाने क्षालनतः कुतः कृतजलाद्यारम्भतः संयमो ,
नष्टे व्याकुलचित्ततात्र महतामप्यन्यतः प्रार्थनम् ।
कौपीनेऽपि हृते परेश्च झटिति क्रोधः समुत्पद्यते।
तन्नित्यं शुचिरागहृच्छमवतां वस्त्रं ककुम्मण्डलम् ॥

अर्थ :- यदि संयमी वस्त्र रक्खे तो उसके मलिन होने पर धोने के लिये जल आदि का उनको आरंभ करना पड़ेगा और यदि जल आदि का आरम्भ करना पड़ा

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

तो उनका संयम ही कहाँ रहा तथा यदि वह वस्त्र नष्ट हो गया तब उनके चित्त में व्याकुलता होगी तथा उसके लिये यदि वे किसी से प्रार्थना करेंगे तो उनकी अयाचक वृत्ति छूट जावेगी और वस्त्रों को छोड़कर यदि वे कौपीन (लँगोट) ही रक्खे तो भी उसके खोजाने पर उनको क्रोध पैदा होगा इसलिये समस्त वस्त्रों का त्याग कर मुनिगणों को नित्य पवित्र राग का नाशक दिशा का मंडल ही वस्त्र है ऐसा समझना चाहिए।[1]

ध्यान करते समय शरीर की कैसी अवस्था होना चाहिए इस सन्दर्भ में राजवार्तिककार का निम्न उल्लेख दृष्टव्य है।

सुखपूर्वक पल्यंकासन से बैठना चाहिए। उस समय शरीर को सम ऋजु और निश्चल रखना चाहिए। अपनी गौद में बायें हाथ के ऊपर दाहिना हाथ रखें। नेत्र न अधिक खुले न अधिक बन्द। नीचे के दाँतों पर ऊपर के दाँतों को मिलाकर रखें। मुँह को कुछ ऊपर की ओर किये हुए तथा सीधी कमर और गम्भीर गर्दन किए हुए, प्रसन्न मुख और अनिमिष स्थिर सौम्य दृष्टि होकर, निद्रा, आलस, काम, राग, रति, अरति, शोक, हास्य, भय, द्वेष, विचिकित्सा आदि को छोड़कर मन्दमन्द श्वासोच्छ्वास लेने वाला साधु ध्यान की तैयारी करता है।[2]

ध्यान के समय कौन से आसन सेवनीय है इस सन्दर्भ में महापुराण में आगत प्रकृत विषय दृष्टव्य है।

ध्यान करने की इच्छा करने वाले मुनि को पर्यंक आसन के समान कायोत्सर्ग आसन करने की भी आज्ञा है। परन्तु उसमें शरीर के समस्त अंग सम व 32 दोषों से रहित रहने चाहिए विषम आसन से बैठने वाले के अवश्य ही शरीर में पीड़ा होने लगती है। उसके कारण मन में पीड़ा होती है और उससे व्याकुलता उत्पन्न हो जाती है। आकुलता उत्पन्न होने पर क्या ध्यान दिया जा सकता है। इसलिए ध्यान के समय सुखासन लगाना ही अच्छा है। कार्योत्सर्ग और पर्यंक ये दो सुखासन हैं इनके सिवाय बाकी के सब आसन विषम अर्थात् दुःख देने वाले हैं। ध्यान करने वाले को इन्हीं दो आसनों की प्रधानता रहती है और उन दोनों में भी पर्यंकासन अधिक सुखकर माना जाता है।[3]

ध्यान के योग्य आसनों का उल्लेख करते हुए ज्ञानार्णव में कहा गया है कि -

पर्यंकासन, अर्द्धपर्यंकासन, वज्रासन, वीरासन, सुरवासन, कमलासन, कायोत्सर्ग ये ध्यान के योग्य आसन माने गये हैं।[4]

समाहृत्येन्द्रियग्राम - मात्मार्थेऽभ्यस्तमानसम् ।
ललाटमध्यविन्यस्तं मनः कृत्वा सुनश्चिलम् ॥ 54॥

---

1. प. वि. /41 2. रा.वा. 9/44 3. म.पु.21/69-72 4. ज्ञा. 28/10

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

उत्सृजन् मन्दमुच्छ्वासं घोणाग्रनिहितेक्षणः ।
लेप्यचित्राकृतिर्धर्म्यं ध्यायेद् ध्यानं महामुनिः ॥55॥

अन्वयार्थ :- **(समाहृत्येन्द्रियग्रामम्)** इन्द्रिय समूह को रोककर **(आत्मार्थेऽभ्यस्तमानसम्)** आत्मा में मनको लगाया है जिसने और **(ललाटमध्यविन्यस्तं)** ललाट के मध्य चित्त को रख कर **(मनः सुनिश्चलम् कृत्वा)** अच्छी तरह मन को निश्चल करके **(मन्दमुच्छवासं उत्सृजन्)** मन्द मन्द उच्छवास को छोड़ ते हुए **(घोणाग्रनिहितेक्षणः)** नासिका के अग्र भाग पर चक्षु इंद्रिय को संयुक्त किया है जिसने **(लेप्यचित्राकृतिः)** लेप से निर्मित मूर्ति के समान आकृति है जिसकी ऐसे **(महामुनिः)** श्रेष्ट मुनि **(धर्म्य ध्यानं ध्यायेत्)** धर्म ध्यान करें।

आज्ञापायविपाकानां विचितिः संस्थितेः क्रमात् ।
धर्म्यं ध्यानमिति प्रोक्तं केवलज्ञानलोचनैः ॥56॥

अन्वयार्थ :- **(केवलज्ञानलोचनैः)** केवलज्ञान रूपी नेत्रों से, सर्वज्ञ जिन के द्वारा **(आज्ञापायविपाकानां विचितिः संस्थितेः क्रमात्)** क्रम से आज्ञाविचय, अपायविचय, विपाय विचय, संस्थान विचय **(इति)** इस प्रकार चार प्रकार का **(धर्म्यं ध्यानम् प्रोक्तं)** धर्मध्यान कहा गया है।

भावार्थ :- तत्त्वानुशासन कार ने धर्म ध्यान का स्वरूप बताते हुए कहा है कि -

सद्दृष्टि - ज्ञान - वृत्तानि धर्मं धर्मेश्वराविदुः ।
तस्माद्यतनपेतं हि धर्म्यं तद्ध्यानमभ्यधुः ॥
आत्मनः परिणामो यो मोह-क्षोभ-विवर्जितः ।
स च धर्मोऽनपेतं यत्तस्माद्धर्म्यमित्यपि ॥

धर्म के ईश्वर अर्थात् तीर्थकरों ने सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र को धर्म कहा है, उस धर्म चिन्तन से युक्त जो ध्यान है वह निश्चित रूप से धर्म ध्यान कहा गया है। आत्मा का जो परिणाम मोह और क्षोभ से रहित है वह धर्म है उस धर्म से युक्त जो ध्यान है, वह भी धर्म ध्यान कहा गया है।[1] इस विषय में ज्ञानसार नामक ग्रंथ में भी निम्न भाव व्यक्त किया है -

सुत्तत्थ-धम्म-मग्गण-वय-गुत्ती-समिदि-भावणाईणं।
जं कीरइ चिंतवणं धम्मज्झाणं तमिह भणियं ॥

1. त.शा./51-52

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अर्थ :- सूत्रार्थ अथवा शास्त्रवाक्यों के अर्थों, धर्मों, मार्गणाओं, व्रतों, गुप्तिओं, समितिओं, भावनाओं आदि का जो चिन्तवन किया जाता है उस सबको धर्मध्यान कहा गया है।[1]

यश्चोत्तमक्षमादिः स्याद्धर्मो दशतयः परः ।
ततोऽनपेतं यद्ध्यानं तद्वा धर्म्यमितीरितम् ॥

उत्तमक्षमादि रूप दश प्रकार का जो उत्कृष्ट धर्म है, उससे युक्त जो ध्यान है, वह भी धर्मध्यान है, ऐसा कहा गया है।[2]

उपर्युक्त धर्मध्यान चार प्रकार का ऋषियों के द्वारा वर्णित किया गया है। आज्ञा विचय, अपाय विचय, विपाक विचय और संस्थान विचय। धर्मध्यान के दश भेद भी हरिवंश पुराण में वर्णित किये गये हैं। उनके नाम निम्न प्रकार हैं - अपाय विचय, उपाय विचय, जीव विचय, अजीव विचय, विपाक विचय, विराग विचय, भव विचय, संस्थान विचय, आज्ञा विचय और हेतु विचय।[3] इस प्रकार नाना भेद रूप धर्मध्यान को जानकर चिन्तवन करना चाहिये।

त्रिकालगोचरानन्त- गुणपर्यायसंयुतम् ।
वस्तुतत्त्वं जिनाम्नातं संमतं नस्तथैव तत् ॥57॥

अन्वयार्थ :- (त्रिकालगोचरानंत) त्रिकालगोचर अनंत **(गुणपर्याय संयुतम्)** गुणपर्यायों सहित **(वस्तुतत्त्वं)** वस्तु तत्त्व को **(जिनाम्ना)** जिन आम्ना अर्थात् जिनेन्द्र भगवान ने कहा है **(तं)** उसको **(तथैव)** वैसा ही **(नः)** हम लोगों को **(संमतं)** मान्य है ऐसा विचार करना आज्ञाविचय धर्म ध्यान कहलाता है।

भावार्थ :- त्रिकालवर्ती पदार्थों का जैसा स्वरूप है वैसा रागादि दोषों से रहित सर्वज्ञ द्वारा देखा गया है तथा सहजोत्पन्न दिव्यध्वनि में मोक्ष सुख के इच्छुक जीवों के लिए उसका प्रतिपादन हुआ है भगवान् के द्वारा षट्द्रव्य, नवपदार्थ, पंचास्तिकाय का निरूपण किया गया है उन सभी का चिन्तन आज्ञा विचय ध्यान में किया जाता है। धवलाकार ने आज्ञा विचय धर्म ध्यान स्वरूप निम्न प्रकार व्यक्त किया है।

आणा णाम आगमो सिद्धन्तो जिणवयणमिदि एयट्टो ।
सुणिउणमणाइणिहणं भूदहिदं भूदभावणमणग्घं ।

---

1. ज्ञा.सा./16 2. त.शा. /55 3. ह.पु. 56/38-50

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अमिदमजिदं महत्थं महाणुभावं महाविसयं ॥
ज्झाएज्जो णिरवज्जं जिणाणमाणं जगप्पईवाणं ।
अणिउणजणदुण्णेयं णंयभंगपमाणगमगहणं ॥

एसा आणा। एदीए - आणाए पच्चक्खाणुमाणादिपमाणाणमगोयरत्थाणं जं ज्झाणं सो आणाविचओ णामज्झाणं।

अर्थ :- आज्ञा से आगम, सिद्धान्त और जिनवचन लिए गये है, क्योंकि ये एकार्थवाची शब्द है।

जो सुनिपुण है, अनादिनिधन है, जगत् के जीवों का हित करने वाली है, जगत् के जीवों द्वारा सेवित है, अमूल्य है, अमित है, अजित है, महान् अर्थवाली है, महानुभाव हैं, महान् विषयवाली है, निरवद्य है, अनिपुण जनों के लिए दुर्ज्ञेय है और नयभंगों तथा प्रमाणागम से गहन है, ऐसी जग के प्रदीपस्वरूप जिन भगवान की आज्ञा का ध्यान करना चाहिये।

यह आज्ञा है। इस आशा के बल से प्रत्यक्ष और अनुमान आदि प्रमाणागम के विषयभूत पदार्थों का जो ध्यान किया जाता है वह आज्ञा विचय नाम का ध्यान है[1]। तथा और भी कहा है कि -

तत्थ मइदुब्बलेण य तव्विज्जाइरियविरह दो वा वि।
णेयगहणत्तणेण य णाणावरणादिएणं च ॥
हे दूदाहरणासंभवे य सरिसुदठुज्जाण बुज्झेज्जो।
सव्वणुमयमवितत्थं तहाविहं चिंतए मदिमं ॥
पंचत्थिकायछज्जीवकाइए कालदव्वमण्णे य।
आणागेज्झे भावे आणाविचएण विचिणादि ॥

अर्थ :- मति की दुर्बलता होने से, अध्यात्म विद्या के जानकार आचार्यों का विरह होने से, ज्ञेय की गहनता होने से, ज्ञान को आवरण करने वाले कर्म की तीव्रता होने से और हेतु तथा उदाहरण सम्भव न होने से नदी और सुखोद्यान आदि चिन्तवन करने योग्य स्थान में मतिमान् ध्याता सर्वज्ञप्रतिपादित मत सत्य है ऐसा चिन्तवन करे।

पाँच अस्तिकाय, छह जीवनिकाय, काल, द्रव्य तथा इसी प्रकार आज्ञाग्राह्य अन्य जितने पदार्थ हैं उनका ध्याता आज्ञाविचय ध्यान के द्वारा चिन्तवन करता है।[2]

बन्धहेतून् कदापास्य रत्नत्रयविभूषणः ।
कर्मारातिचमूं भित्वा शिवं प्राप्स्यामि शाश्वतम् ॥58॥

---

1. ध. 13/71 2. ध. 13/71

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अन्वयार्थ :- (बन्धहेतून्) बन्ध के कारणों को **(अपास्य)** छोड़ कर **(रत्नत्रयविभूषणः)** रत्नत्रय से सहित होकर **(कर्मारातिचमूं)** कर्म रूपी शत्रुओं की सेना को **(भित्वा)** नष्ट करके **(कदा)** कब **(शाश्वतम्)** शाश्वत **(शिवं)** शिव अर्थात् मोक्ष सुख को **(प्राप्स्यामि)** प्राप्त करूँगा। ऐसा विचार करना अपाय विचय धर्म ध्यान है।

भावार्थ :- कर्मबन्ध के कारण मिथ्यादर्शन, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग को छोड़कर सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चरित्र को प्राप्त कर घातिया अघातिया कर्मो का नाश कर कब मुझे मुक्ति का लाभ होगा इस प्रकार चिन्तवन करना अपाय विचय नामक धर्मध्यान कहलाता है।

धवला में इसका स्वरूप निम्न प्रकार कहा है-

मिच्छत्तासंजम-कसाय-जोगजणिदकम्मसमुप्पण्णजाइ-जरा-मरण-वेयणाणुसरणं तेहिंतो अवायचिंतणं च अवायविचयं णाम धम्मज्झाणं।

अर्थ :- मिथ्यात्व, असंयम, कषाय और योगों के निमित्त से कर्म उत्पन्न होते है और कर्मो के निमित्त से जाति, जरा, मरण औरवेदना उत्पन्न होती है ऐसा चिन्तवन करना और उनसे अपाय (छूटने) का चिन्तन करना अपायविचय नामक धर्मध्यान है। [1]

कष्टं कर्माष्टकं प्राप्य द्रव्यादिकचतुष्टयम्
शुभाशुभफलं दत्ते देहिनां भवभागिनाम् ॥ 59 ॥

अन्वयार्थ :- (कष्टं) कष्ट की बात है कि **(कर्माष्टकं)** आठ कर्म **(द्रव्यादिकचतुष्टयम्)** द्रव्य, क्षेत्रादिचतुष्टय को **(प्राप्य)** प्राप्त करके **(देहिनां)** प्राणियों को **(शुभाशुभफलं)** शुभ अशुभ फल को **(दत्ते)** देकर **(भवभागिनाम्)** संसार में भटकाते है। ऐसा विचार करना विपाक विचय धर्म-ध्यान है।

भावार्थ :- प्रतिसमय जीव,मन, वचन और काय की चेष्टा करता है उसके फलस्वरूप प्रतिसमय सूक्ष्म पुद्‌गल वर्गणाओं को ग्रहण करता है वे पुद्‌गल वर्गणायें ज्ञानावरणादि रूप परिणमन कर जाती है और वे ही जीव में रागादि सुख-दुःख को उत्पन्न करती है उनके वश हुआ जीव

---

1. ध.13/72

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

नवीन कर्मों का बंध करता है और इस प्रकार कर्मों के वश जीव का परिभ्रमण सतत कायम रहता है इस प्रकार कर्मों के उदय उदीरणा विपाक आदि का विचार करना विपाक विचय धर्मध्यान है। हरिवंशपुराण में विपाक विचय धर्मध्यान का स्वरूप निम्न प्रकार बतलाया है -

यच्चतुर्विधबन्धस्य कर्मणोऽष्टविधस्य तु ।
विपाकचिंतनं धर्म्यं विपाकविचयं स्मृतम् ॥

अर्थ :- ज्ञानावरणादि आठ कर्मों के प्रकृति, स्थिति, प्रदेश और अनुभाग रूप चार प्रकार के बन्धों के विपाक (कर्म) फल का विचार करना सो विपाक विचय नाम का धर्मध्यान है।[1]

जीवाजीवादिभिर्भावैः स्थित्युत्पत्तिव्ययात्मभिः ।
सम्पूर्णोऽनादिसंसिद्धो लोकस्तालतरुस्थितिः ॥60॥

अन्वयार्थ :- **(स्थित्युत्पत्तिव्ययात्मभिः)** उत्पाद व्यय ध्रौव्यरूप **(जीवाजीवादिभिर्भावैः)** जीव अजीव तत्वों से सहित **(तालतरुस्थितिः)** ताड़ वृक्ष के समान आकार वाला **(अनादिसंसिद्धः)** अनादिसिद्ध **(सम्पूर्णः लोकः)** समस्त लोक है ऐसा विचार करना संस्थान विचय धर्मध्यान है।

भावार्थ :- ऊर्ध्वलोक, मध्यलोक और अधोलोक के स्वरूप का तथा त्रिलोकवर्ती चेतन अचेतन द्रव्यों के स्वरूप का चिन्तवन करना संस्थान विचय धर्मध्यान है।

धवलानामक ग्रन्थ में संस्थान विचय धर्मध्यान का स्वरूप निम्न प्रकार से व्यक्त किया है -

तिण्णं लोगाणं संठाण-पमाणाउयादिचिंतणं संठाणविचयं णाम चउत्थं धम्मज्झाणं। एत्थ गाहाओ -

जिणदेसियाइ लक्खणसंठाणासणविहाणमाणाइं ।
उप्पाद-ट्ठिदिभंगादिपज्जया जे य दव्वाणं ॥
पंचत्थिकायमइयं लोगमणाइणिहणं जिणक्खादं ।
णामादिभेयविहियं तिविहमहोलोगभागादिं ॥
खिदिवलयदीवसायरणयरविमाण भवणादिसंठाणं ।
वोमादिपडिट्ठाणं णिययं लोगट्ठिदिविहाणं ॥

---

1. ह. पु.56/45

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

उवजोगलक्खणमणाइणिहणमत्थंतरं सरीदादो ।
जीवमरूविं कारिं भोइं च सयस्य कम्मस्य ॥
तस्य य सकम्मजणियं जम्माइजलं कसायपायालं ।
वसणसयसावमीणं मोहावत्तं महाभीमं ॥
णाणमयकण्णहारं वरचारित्तमयमहापोयं ।
संसारसागरमणोरपारमसुहं विचिंतेज्जो ॥

अर्थ :- तीनों लोकों के संस्थान प्रमाण और आयु आदि का चिन्तवन करना संस्थान विचय नाम का चौथा धर्म्य ध्यान है। इस विषय में गाथायें

जिनदेव के द्वारा कहे गये छह द्रव्यों के लक्षण ,संस्थान, रहने का स्थान, भेद, प्रमाण तथा उनकी उत्पाद, स्थिति और व्यय आदि रूप पर्यायों का पांच अस्तिकाय मय अनादिनिधन नामादि अनेक भेद रूप और अधोलोक आदि भागरूप से तीन प्रकार के लोक का तथा पृथिवीवलय द्वीप, सागर, नगर, विमान, भवन आदि के संस्थान का एवं आकाश में प्रतिष्ठान नियत और लोकस्थिति आदि भेद का चिन्तवन करे। जीव उपयोग लक्षणवाला है, अनादिनिधन है, शरीर से भिन्न है, अरूपी है तथा अपने कर्मो का कर्ता और भोक्ता है। ऐसे उस जीव के कर्म से उत्पन्न हुआ जन्म मरण आदि यही जल है कषाय यही पाताल है, सैकड़ों व्यसन रूपी छोटे मत्स्य है मोहरूपी आवर्त है और अत्यन्त भंयकर है ज्ञानरूपी कर्णधार हैं उत्कृष्ट चारित्रमय महापोत है। ऐसे इस अशुभ और अनादि अनन्त संसार का चिन्तवन करना संस्थान विचय धर्म ध्यान है।[1]

ध्येयं वस्तु द्विधा तच्च चेतनाचेतनात्मकम् ।
अशेषदोषनिर्मक्तो देवः सकलनिष्कलः ॥61॥

अन्वयार्थ :- **(ध्येयं वस्तु)** ध्येय वस्तु **(द्विधा)** दो प्रकार की है **(तत्)** वह **(चेतनाचेतनात्ममकं)** चेतन और अचेतन रूप है, **(अशेषदोष-निर्मुक्तो)** सम्पूर्ण दोषों से रहित **(सकलनिष्कलः)** सकल ओर निकल **(देवः)** परमात्मा ध्येय है।

भावार्थ :- द्रव्य मूल में द्विधारूप है चेतनात्मक और अचेतनात्मक। चेतनात्मक द्रव्यों में जो श्रेष्ठतम ध्येय है वह सकल परमात्मा अर्थात् अर्हन्त भगवान और निकल परमात्मा अर्थात् सिद्ध भगवान है। तत्वानुंशासन में सकल परमात्मा का निम्न प्रकार से चिन्तवन करना

1. ध.13/72-73

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

चाहिये ।इस विषय में श्लोक निम्न प्रकार से है -

तथाऽऽद्यमाप्तमाप्तानां देवानामधिदैवतम् ।
प्रक्षीणघातिकर्माणं प्राप्ताऽनन्त-चतुष्टयम् ॥
दूरमुत्सृज्य भू-भागं नभस्तलमधिष्ठितम् ।
परमौदारिक स्वाऽङ्ग प्रभा-भर्त्सित भास्करम् ॥
चतुस्त्रिंशन्महाऽऽश्चर्यै प्रातिहार्यैश्च भूषितम् ।
मुनि तिर्यङ्नर स्वर्गि सभाभिः सन्निषेवि तम् ॥
जन्माऽभिषेक प्रमुख प्राप्त पूजाऽतिशायिनम् ।
केवलज्ञान निर्णीत विश्वतत्त्वोपदेशिनम् ॥
प्रशस्त लक्षणाकीर्ण सम्पूर्णोदग्रविग्रहम् ।
आकाश स्फटिकान्तस्थ ज्वलज्ज्वालानलोज्ज्वलम् ॥
तेजसामुत्तमं तेजो ज्योतिषां ज्योतिरुत्तमम् ।
परमात्मानमर्हन्तं ध्यायेन्निश्रेयसाऽऽप्तये ॥

अर्थः- जो आप्तों में प्रमुख आप्त है देवों के अधिदेवता है जो घातिकर्मो को क्षीण करके अनन्त चतुष्टय को प्राप्त है भूतल को दूर छोड़कर नभस्तल में अधिष्ठित है अपने परम औदारिक शरीर की प्रभा से भास्कर को तिरस्कृत कर रहे है चौतीस महान् आश्चर्यों / अतिशयों और (आठ) प्रतिहार्यों से सुशोभित है मुनियों -तिर्यंचो मनुष्यों और स्वर्गादि के देवों की सभाओं से भले प्रकार सेवित है, जन्माभिषेक आदि के अवसरों पर सातिशय पूजा को प्राप्त है। केवलज्ञान द्वारा निर्णीत सकल तत्त्वों के उपदेशक हैं प्रशस्त लक्षणों से परिपूर्ण उच्चशरीर के धारक है निर्मल आकाश के अन्त में स्थित जाज्वल्यमान ज्वाला रूपी अग्नि से भी उज्ज्वल है तेजों में उत्तम तेज और ज्योतियों में उत्तम ज्योति स्वरूप है। उन अर्हन्त परमात्मा को निःश्रेयस की प्राप्ति के लिये ध्यावें।[1]

क्षीरवारिधिमध्यस्थ - सहस्त्रदलमम्बुजम् ।
तत्रात्मानं सदोन्निद्रं ध्यायन्नन्तर्बहिर्मुहुः ॥62॥
मूर्ध्नेन्दुमुक्तपीयूष - वारिधारापरिप्लुतम् ।
अर्हन्निति शशाङ्काभं जपेद्बीजं विमुक्तये ॥63॥

अन्वयार्थ :- (क्षीरवारिधि मध्यस्थ) क्षीर समुद्र केमध्य में **(सहस्र-दलमम्बुजम्)** हजार पांखुडी का कमल है **(तत्र)** उस पर योगी **(अन्तर्बहिः)** अन्तरंग और बाह्य से **(सदोन्निद्रं)** सदा जागृत **(मुहुः)**

1. त. शा. /123-128

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

निरंतर **(आत्मानं)** अपनी आत्मा को **(ध्यायन्)** ध्याता हुआ. **(मूर्ध्नेन्दुमुक्त)** मस्तक पर चन्द्रमा के द्वारा छोड़ी गई **(पीयूष वारिधारा परिप्लुतम्)** अमृत रूपी जल धारा से स्नान किया हुआ. **(शशाङ्काभं)** चन्द्रमा की आभा के समान **(अर्हं इति)** ''अर्हं'' इस वीजाक्षर को **(विमुक्तये)** मुक्ति के लिये जपे।

भावार्थ :- योगी इस प्रकार विचार करे यह सम्पूर्ण लोक क्षीर समुद्र है उस क्षीर समुद्र के बीच में हजार पाखुड़ी वाला कमल है। उस पर मैं बैठा हूँ। ऊपर से चन्द्रमा का प्रकाश चारों ओर फैल रहा है तथा मस्तक पर गिर रहा है - इस अवस्था में वह निज आत्मा का ध्यान करता हुआ ''अर्हं'' इस बीजाक्षर का ध्यान करे।

अष्टोत्तरशतं पूर्णं यो जपे,- दपराजितम् ।
मनोवाक्कायगुप्तोऽसौ प्रोषधं फलमश्नुते ।।64।।

अन्वयार्थः- **(यः)** जो **(मनोवाक्कायगुप्तः)** मन,वचन एवं काय को रोककर **(अष्टोत्तरशतं)** एकसौ आठ बार **(पूर्णं)** सम्पूर्ण **(अपराजितम्)** णमोकार मंत्र को **(जपेत्)** जपता है **(असौ)** वह **(प्रोषधं)** प्रोषध के **(फलं)** फल को **(अश्नुते)** प्राप्त करता है।

भावार्थः- जो योगी मन वचन और काय को रोककर पंचनमस्कार मंत्र को एक सौ आठ बार जपता है वह एक प्रोषधोपवास के फल को प्राप्त करता है।

इसी आशय को प्रकट करते हुये ज्ञानार्णव में कहा है कि-

शतमष्टोत्तरं चास्य त्रिशुद्धया चिन्तयन्मुनिः ।
भुञ्जानोऽपि चतुर्थस्य प्राप्नोत्यविकलं फलम् ।

अर्थ :- मन, वचन, काय को शुद्ध करके इस मंत्र का एक सौ आठ बार चिन्तवन करे तो वह मुनि आहार करता हुआ भी चतुर्थ कहिये एक उपवास के पूर्ण फल को प्राप्त होता है।[1] इस महामंत्र का प्रभाव अकथनीय है इसी भाव को ज्ञानार्णव में इस प्रकार व्यक्त किय है -

प्रभावमस्य निःशेषं योगिनामप्यगोचरम् ।
अनभिज्ञो जनो ब्रूते यः स मन्येऽनिलार्दितः ॥

1.ज्ञा-38/47

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

4822

अर्थ :- इस महामंत्र का पूर्ण प्रभाव योगी मुनीश्वरों के भी अगोचर है उनके द्वारा भी कहने में नहीं आता और जो इसको नहीं जानने वाला पुरूष इसके प्रभाव को कहता है उसको मैं वायु रोग से प्रलाप करने वाला मानता हूँ।[1]

षोडशाक्षरविद्यायां स्यात्तदेव शतद्वये ।
त्रिशत्या षट् सुवर्णेषु चतुः षट्शत्या च वार्धिषु ॥65॥
अकारं परमं बीजं जपेद् यः शतपञ्चकम् ।
प्रोषध प्राप्नुयात् सम्यक् शुद्धबुद्धिरतन्द्रितः ॥66॥

अन्वयार्थः- **(यः)** जो **(षोडशाक्षरविद्यायां)** सोलह अक्षरों के मंत्र को **(शतद्वये)** दो सौ बार **(षट्)** 6 अक्षरों के मंत्र को **(त्रिशत्या)** तीन सौ बार **(चतुः)** चार अक्षरों के मंत्र को **(षट्शत्या वार्धिषु)** 600 बार जपता है **(च)** और **(अकारं परमं बीजं)** अकार रूप जो परम बीज है उसे **(शतपञ्चकम्)** 500 बार **(जपेत्)** जपता है **(तदेव)** वह ही **(अतन्द्रितः)** प्रमाद रहित होता हुआ **(प्रोषध)** प्रोषध के फल को प्राप्त करता हुआ **(सम्यक् शुद्ध बुद्धिः)** समीचीन शुद्ध बुद्धि को **(प्राप्नुयात्)** प्राप्त करता है।

भावार्थः- जो सोलह अक्षरों के मंत्र अर्थात् "अर्हत्सिद्धाचार्योपाध्यायसर्वसाधुभ्योः नमः" को एकाग्र मन होकर दो सौ बार जाप करता है वह प्रोषध के फल को प्राप्त करता है इसी आशय को प्रकट करते हुये ज्ञानार्णव में कहा है-

स्मर पञ्चपदोद्भूतां महाविद्यां जगन्नुताम् ।
गुरूपञ्चकनामोत्थां षोडशाक्षरराजिताम् ॥

अर्थः- हे मुने ! तू सोलह अक्षरों से अंलकृत जो महा विद्या है उसका स्मरण कर अर्थात् ध्यान कर क्योंकि षोडशाक्षरी विद्या पञ्च पदों और पंच परमगुरू के नामों से उत्पन्न हुई है और प्राणी मात्र से नमस्कार करने योग्य है। वह सोलह अक्षरी विद्या यह है "अर्हत्सिद्धाचार्योपाध्यायसर्वसाधुभ्योः नमः"[2]

अस्याः शतद्वयं ध्यानी जपन्नेकाग्रमानसः ।
अनिच्छन्नप्यवाप्नोति चतुर्थतपसः फलम् ॥

अर्थः- जो जीव इस षोडशाक्षरी विद्या का एकाग्र मन होकर दो सौ बार जप करता है वह नहीं चाहता हुआ भी चतुर्थ तप अर्थात् एक उपवास के फल को

1. ज्ञा.38/42   2. ज्ञा. 38/48

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

प्राप्त होता हैं।[1]

तथा जो छह अक्षरों के मंत्र "अरहन्त सिद्ध" को तीन सौ बार जप करता है वह भी एक प्रोषध के फल को प्राप्त करता है ज्ञानार्णव में कहा भी है कि-

विद्यां षड्वर्णसम्भूताजय्यां पुण्यशालिनीम् ।
जपन्प्रागुक्तमभ्येति फलं ध्यानी शतत्रयम् ॥

अर्थः- तथा "अरहन्त सिद्ध" इस प्रकार छह अक्षरों से उत्पन्न हुई विद्या का तीन सौ बार जप करने वाला मनुष्य एक उपवास के फल को प्राप्त होता है क्योंकि यह षडक्षारी विद्या अखण्डनीय पुण्य को उत्पन्न करनेवाली तथा पुण्य से शोभित है।[2]

तथा इसी प्रकार जो चार अक्षरों का मंत्र "अरहंत" इसका चार सौ बार जप करता है उसे भी एक उपवास का फल प्राप्त होता है ज्ञानार्णव में कहा भी है कि-

चतुर्वर्णमयं मन्त्रं चतुर्वर्गफलप्रदम् ।
ध्यायेज्जन्मोद्भवाशेषक्लेशविध्वंसनक्षमम् ॥

अर्थ :- "अरहंत" यह चार अक्षरों का मंत्र है सो धर्म, अर्थ, काम, मोक्षरूप फल को देने वाला है इसको जो चार सौ बार जप करता है वह एक उपवास का फल पाता है।[3]

तथा 'अ' मात्र का ध्यान करने से क्या फल होता है। अभिप्राय को प्रकाशित करने वाला श्लोक ज्ञानार्णव में कहा गया है वह निम्न प्रकार है-

अवर्णस्य सहस्रार्द्धं जपन्नानन्दसंभृतः ।
प्राप्नोत्येकोपवासस्य निर्जरां निर्जिताशयः ॥

अर्थ :- जो मुनि अपने चित्त को वश करके आनन्द से 'अ' इस वर्णमात्र का पाँच सौ बार जप करता है वह एक उपवास के निर्जरारूप फल को प्राप्त करता है।[4]

द्रव्यसंग्रह में इसीप्रकार उपयुक्त मंत्रपदों के साथ अन्यमंत्र पदों का जाप भी गुरू उपदेशानुसार करना चाहिए। कहा भी गया है कि-

पण तीस सोल छप्पण चदु दुगमेगं च जवह झाएह।
परमेट्ठिवाचयाणं अण्णं च गुरूवएसेण॥

अर्थ :- इसमें पैंतीस, सोलह, छह, पाँच, चार, दो, एक अक्षर वाले प्रसिद्ध मंत्रों कीसूचना की गई है साथ ही परमेष्ठिवाचक दूसरे मंत्रों को भी गुरू उपदेशानुसार जपने तथा ध्याने की प्रेरणा की गई है।[5] पैंतीस अक्षरों का प्रसिद्ध मंत्र-

---

1. ज्ञा. 38/49 2. ज्ञा. 38/50 3. ज्ञा. 38/51
4. ज्ञा. 38/53 5. द्र.स. /49

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

णमो अरिहंताणं णमो सिद्धाणं णमो आइरियाणं ।
णमो उवज्झायाणं णमो लोए सव्वसाहूणं ॥

है। जिसे णमोकारमंत्र, मूलमंत्र तथा अपराजितमंत्र भी कहते हैं सोलह अक्षर का मंत्र ''अरिहंत सिद्ध आइरिय उवज्झाय साहू'' तथा अर्हत्त्सिद्धाचार्योपाध्यायसर्वसासाधुभ्यो नमः, छह अक्षरों के मंत्र ''अरहंत सिद्ध। अर्हद्भ्यः नमोस्तु।'' ॐ नमः सिद्धेभ्यः। नमोऽर्ह सिद्धेभ्यः।

इस प्रकार छह अक्षर वाले, पंचाक्षरी मंत्र ''असिआउ सा'' चतुरक्षर मंत्र अरंहत (अरिहंत), दो अक्षर वाले मंत्र अर्हं, सिद्ध तथा एक अक्षर के मंत्र ऊँ, ह्री, अकारादि है। इस प्रकार पवित्र बीजाक्षरों को अवलम्बन बनाकर कर पदस्थ करना चाहिए।

तस्यैवादिनमस्कारं वर्णसप्तकमाजपेत् ।
योऽसावेकमनाः शश्वदश्नुते शाश्वतं शिवम् ॥67॥

अन्वयार्थ - (तस्यैव) उस ही णमोकार मंत्र के **(आदि)** प्रथम पद में **(वर्णसप्तकम्)** सात वर्ण है **(यः)** जो **(एकमनाः)** एकाग्रमन से **(शश्वत्)** हमेशा **(आजपेत्)** जापकरता है **(असौ)** वह **(शाश्वतं)** शाश्वत **(शिवम्)** शिवसुख को **(अश्नुते)** प्राप्त करता है।

भावार्थ :- नमस्कार मंत्र में जो 'णमो अरहंताण' पद है उसका जो योगी एकाग्र होकर जाप करता है वह मुक्ति को प्राप्त करता है।

ज्ञानार्णव में इस सन्दर्भ में कहा है कि-

मन्त्रः प्रणवपूर्वोऽयं निश्शेषाभीष्टसिद्धिदः ।
ऐहिकानेककामार्थं मुक्त्यर्थं प्रणवच्युतः ॥

अर्थात् जो प्रणव पूर्वक अर्थात् ऊँ सहित ''णमो अरहंताणं' इस मंत्र का ध्यान करता है उसे यह समस्त मनोवांछित सिद्धि का देने वाला है तथा इस लोक संबंधी अनेक कार्यों के लिये हैं। और प्रणव वर्जित मात्र 'णमो अरहंताणं' इस पद का ध्यान करने से मुक्ति की प्राप्ति होती है।[1]

'अ सि आ उ सा' बीजानि विश्वव्यापीनि तन्मनाः।
जपन्ननारतं योगी सम्यग्बोधर्द्धिमृच्छति ॥68॥

अन्वयार्थ - ('असि आ उ सा') अ सि आ उ सा ये **(विश्वव्यापीनि)** विश्वव्यापी **(बीजानि)** बीजाक्षर हैं इन बीजाक्षरों को जो **(योगी)**

---

1. ज्ञा.38/102

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

योगी (अनारतं) निरन्तर (जपन्) जपता है (तन्मनाः) उसे (सम्यग्बोधर्द्धिमृच्छति) सम्यग्ज्ञान रूपी ऋद्धि की प्राप्ति होती है।

भावार्थ - पंचपरमेष्ठी के बाचक स्वरूप 'अ सि आ उ सा' इन बीजाक्षरों का ध्यान तथा जाप करने से योगी सम्यग्ज्ञान की उपलब्धि करता है।

इन बीजाक्षरों के सन्दर्भ में ज्ञानार्णव में निम्न श्लोक कहा गया है -

स्मर मन्त्रपदाधीशं मुक्तिमार्गप्रदीपकम् ।
नाभिपङ्कजसंलीनमवर्णं विश्वतोमुखम् ॥
सिवर्णं मस्तकाम्भोजे साकारं मुखपङ्कजे ।
आकारं कण्ठकञ्जस्थं स्मरोकारं हृदि स्थिरम् ॥

अर्थ :- हे मुने! तू मन्त्रपदों का स्वामी और मुक्ति के मार्ग को प्रकाश करने वाले अकार अक्षर को नाभिकमल में चिन्तवन कर। यह अक्षर सर्वत्र्यापी है और 'सि' अक्षर को मस्तक कमल पर 'आ' अक्षर को कंठस्थ कमल में 'उ' अक्षर को हृदयकमल पर और 'सा' अक्षर को मुखस्थ कमल पर ऐसे "अ सि आ उसा" इन पाँच अक्षरों को पांच स्थानों पर चिन्तवन करें।[1]

तथा तत्त्वानुशासन कार ने इन बीजाक्षरों का निम्न प्रकार से ध्यान करने के लिए निर्देश किया है -

हृत्पंकजे चतुष्पत्रे ज्योतिष्मन्ति प्रदक्षिणम्।
अ-सि-आ-उ-साऽक्षराणि ध्येयानि परमेष्टिनाम् ॥

अर्थ :- चार पत्रों वाले हृदय कमल में पंच परमेष्ठियों के वाचक अ, सि, आ, उ, सा ये पांच अक्षर ज्योतिष्मान् रूप में (कमलपत्रादिक पर) प्रदक्षिणा करते हुए ध्यान किये जाने के योग्य हैं।

जिन पाँच अक्षरों अ, सि, आ, उ, सा को यहाँ ध्येय बतलाया है वे क्रमशः अर्हन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु परमेष्ठी के वाचक, उनके आद्याक्षररूप नाम हैं। इनका ध्यान हृदय में चार पत्रों वाले कमल की कल्पना करके किया जाता है। कमल की कर्णिका पर 'अ' अक्षर की , सम्मुख वाले पत्र पर 'सि' की, दक्षिण पत्र पर 'आ' की पश्चिम पत्र पर 'उ' की और उत्तराभिमुखी पत्र पर 'सा' अक्षर की स्थापना की जाती है। पाँचों अक्षर ज्योतिष्मान् हैं उनसे ज्योति छिटक रही है और वे अपने स्थानों पर प्रदक्षिणा करते हुए घूम रहे हैं, ऐसा चिन्तन किया जाना चाहिए।[2]

1.ज्ञा. 38/108-109 2.त.शा. /102

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

शरणोत्तममाङ्गल्य- परमन्त्रपदान्यपि ।
जपतां स्मरतां पुंसां मोक्षलक्ष्मीर्वशं व्रजेत् ।।69।।

अन्वयार्थ :- (शरणोत्तममाङ्गल्य) शरण, उत्तम, मंगल रूप **(परमन्त्र पदान्यपि)** परम मन्त्र पदों का भी जो **(पुंसां)** पुरुष **(जयतां)** जापकरता है **(स्मरतां)** स्मरण करता है वह **(मोक्षलक्ष्मीवशं)** मोक्षरूपी लक्ष्मी को वश में कर **(ब्रजेत्)** प्राप्त करता है।

भावार्थ - जो योगी चत्तारि दण्डक अर्थात् जिसमें लोक में श्रेष्ठ मंगल उत्तम एवं शरण स्वरूप अरहंत, सिद्ध, साधु और केवली के द्वारा कथित धर्म को स्वीकार किया गया है ऐसे पवित्र मंत्रपदों का जो स्मरण करता है वह शाश्वत सुख को उपलब्ध करता है वह चत्तारिदण्डक मंत्र पद निम्न प्रकार है -

चत्तारि मंगलं अरहंता मंगलं, सिद्धा मंगलं, साहू मंगलं, केवलिपण्णत्तो धम्मो मंगलं। चत्तारिलोगुत्तमा, अरहंतालोगुत्तमा, सिद्धा लोगुत्तमा, साहू लोगुत्तमा, केवलि पण्णत्तो धम्मो लोगुत्तमो। चत्तारि सरणं पव्वज्जामि अरहंते सरणं पव्वज्जामि, सिद्धे सरणं पव्वज्जामि, साहूसरणं पव्वज्जामि, केवलि पण्णत्तं धम्मं सरणं पव्वज्जामि।

ललाटपट्टसंश्लिष्टां चञ्चच्चन्द्रकलामलाम् ।
ईषत्प्राग्भारदेशीयां सुधाधारात्रपाञ्चिताम् ।।70।।
ध्यायंस्त्रयोदशीं मात्रां महाबलमनाहतम् ।
घोणाग्रे ज्ञानमाप्नोति स्वभ्यासान्मृतकस्थिते : ।।71।।

अन्वयार्थ - (मृतकस्थितेः) शवासन में स्थित **(स्वभ्यासात्)** अपने ध्यान के अभ्यास से **(ललाटपट्ट-संश्लिष्टां)** ललाट पर स्थित, **(चञ्चच्चन्द्रकलामलाम्)** निर्मल चन्द्र कला से सुशोभित **(ईषत्प्राग-भारदेशीयां)** स्फटिकमणि के समान उज्ज्वल सुगंधित अष्टम पृथ्वी के समान **(सुधाधारात्रपाञ्चिताम्)** अमृत धारा से सहित **(त्रयोदशीं मात्रां)** 13 अक्षरों वाली महाविद्या को **(घोणाग्रे)** नासिका के अग्रभाग पर **(ध्यायन्)** ध्यान करता हुआ **(महाबलमनाहतम्)** महाबल अर्थात् अनन्त वीर्य और अखण्डित **(ज्ञानमाप्नोति)** ज्ञान अर्थात् केवल ज्ञान की प्राप्ति

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

होती है।

भावार्थ :- जो योगी तेरह अक्षर वाला "ऊँ अर्हत् सिद्ध सयोगकेवली स्वाहा" इस मंत्र का ललाट पर चन्द्रमा की क्रांति के वर्ण के समान ध्यान करता है उस योगी को महाबल की प्राप्ति होती है और जो योगी नासिका के अग्रभाग पर मृतक आसन (शवासन) में स्थिर होकर इस मंत्र का ध्यान करता है उसे सम्यग्ज्ञान की प्राप्ति होती है। ज्ञानार्णवकार ने इस सन्दर्भ में निम्न श्लोक कहा है -

प्रसादयितुमुद्युक्तैर्मुक्तिकान्तां यशस्विनीम् ।
दूतिकेयं मता मन्ये जगद्वन्द्यैर्मुनीश्वरैः ॥

अर्थ - यश की धारक मुक्ति रूपी स्त्री को प्रसन्न करने के लिये उद्यमी हुए ऐसे तथा जगत से पूज्य मुनीश्वरों ने इस तेरह अक्षरी विद्या को मुक्ति को प्रसन्न करने के अर्थ दूती माना है, ऐसा मैं मानता हूँ।[1]

सर्वलक्ष्यविनिर्मुक्तः सन्निरुद्धैकमानसः ।
एवं केवलमभ्यस्यन् विश्वमध्यक्षमीक्षते ॥72॥

अन्वयार्थ :- (सर्वलक्ष्यविनिर्मुक्तः) जो अन्य सर्वलक्ष्य से रहित होकर **(सन्निरुद्धैकमानसः)** सब ओर से मन को रोक कर **(एवं)** इस प्रकार के **(केवलं)** केवल 13 अक्षर वाले मंत्र का **(अभ्यस्मन्)** अभ्यास करता है वह **(विश्वमध्यक्षमीक्षते)** प्रत्यक्ष विश्व को सम्पूर्ण रूप से देखता है।

भावार्थ :- जो योगी समस्त आशाओं से अतीत होकर, चित्त के व्यापार को रोककर, इस तेरह अक्षर वाले मंत्र पद 'ऊँ अर्हत् सिद्ध सयोगकेवली स्वाहा' मंत्र का अभ्यास करता है वह सर्वदृष्टा हो जाता है।

इस मंत्र के सन्दर्भ में ज्ञानार्णव ग्रंथ में यह भाव व्यक्त किया गया है-

सिद्धेः सौधं समारोढुमियं सोपानमालिका ।
त्रयोदशाक्षरोत्पन्ना विद्या विश्वातिशायिनी ॥

अर्थ :- जगत में अतिशयरूप तेरह अक्षरों से उत्पन्न हुई यह विद्या मोक्ष के महल पर चढ़ने के लिये सीढ़ियों की पंक्ति है।[2]

---

1. ज्ञा. 38/59
2. ज्ञा. 38/58

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

क्षान्त्यर्थं सर्वजन्तूनामिहामुत्रविरोधिनाम् ।
'णमो अरहंताणं' जपित्वा मन्त्रशतं दिशि ॥73॥
दलाशाष्टकसंश्लिष्टे वर्गाष्टकविभूषिते ।
दिग्दलप्रणवाक्रान्ते प्रतिपत्रं मुखाम्बुजे ॥74॥
ॐ णमो अरहंताणमित्येकैकमथाक्षरम् ।
विन्यस्यैनं पुनर्मन्त्र जपेत् सद्बोधसिद्धये ॥75॥

अन्वयार्थ :- (इहामुत्रविरोधिनाम्) इस लोक और परलोक के विरोधी **(सर्वजन्तूनाम्)** सब जीवों की **(क्षान्त्यर्थं)** शांति के लिये 'णमो अरहंताणं'' **(मन्त्रः)** इस मन्त्र का **(शतंदिशि जपित्वा)** 108 वार जाप कर।

अन्वयार्थ :- (दलाशाष्टक) आठ पांखुड़ी का **(मुखाम्बुजे)** कमल मुख में **(संश्लिष्टे)** बनावे उसको **(वर्गाष्टकविभूषिते)** आठ वर्गों से भरे अर्थात् पहली पांखुड़ी में चौदह स्वर, दूसरी में कवर्ग, तीसरी में चवर्ग, चौथी में टवर्ग, पांचवी में तवर्ग, छटवीं में पवर्ग, सातवीं में य र ल व, आठवीं में श स ष ह ये आठ वर्ग भरे **(दिग्दलप्रणवाक्रान्ते)** पांखड़ी के जो किनारे है उसमें **(प्रतिपत्रं)** प्रत्येक पत्र पर **(ॐ णमो अरहंताणं)** **(इति)** इस **(एकैकमथाक्षरम्)** एक पद को अथवा ॐ आदि एक-एक अक्षर लिखें **(विन्यस्यैनं)** इस प्रकार मंत्र का न्यास करके **(पुनः)** फिर **(सद्बोधसिद्धये)** ज्ञान की सिद्धि के लिये **(मन्त्रं)** मन्त्र का **(जपेत)** जाप करें।

भावार्थ :- विरोधी, बैरी जीवों के प्रशम भाव के लिये सर्वप्रथम 108 बार ''णमो अरहंताणं'' मंत्र का जापकर, आठ पांखुड़ी का कमल मुख में बनावें उनमें प्रथम पांखुड़ी में चौदह स्वर, द्वितीय में कवर्ग, तृतीय में चवर्ग, चौथी में टवर्ग, पांचवीं में तवर्ग, छटवीं में पवर्ग, सातवीं में य, र, ल, व आठवी में श, स, ष ह में आठ वर्ण भरे तथा पांखुड़ियों के किनारों पर प्रत्येक पत्र पर 'ॐ णमो अरहंताणं' इस पद को अथवा 'ॐ' आदि एक-एक अक्षर लिखें तदनन्तर 'ॐ णमो अरहंताणं' ॐ आदि मंत्र पदों

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अथवा वर्णमातृका के वर्णों का जाप करे इस प्रकार ध्यान करने से श्रुतज्ञान की प्राप्ति होती है -

ज्ञानार्णव ग्रंथ में भी वर्णमातृका का निरन्तर ध्यान करने पर निम्न फल प्राप्त होता है कहा भी है -

इत्यजस्रं स्मरन् योगी प्रसिद्धां वर्णमातृकाम्।
श्रुतज्ञानाम्बुधेः पारं प्रयाति विगतभ्रमः ॥

अर्थः- प्रसिद्ध वर्णमातृका का निरंतर ध्यान करता हुआ योगी भ्रमरहित होकर श्रुतज्ञानरूपी समुद्र के पार को प्राप्त हो जाता है।[1]

और भी कहा है कि-

कमलदलोदरमध्ये ध्यायन्वर्णाननादिसंसिद्धान् ।
नष्टादि विषयबोधं ध्याता सम्पद्यते कालात् ॥

अर्थ :- ध्यान करने वाला पुरुष कमल के पत्र और कर्णिका के मध्य में अनादि संसिद्ध (49) अक्षरों का ध्यान करता हुआ कितने ही काल में नष्टादि वस्तु संबंधी ज्ञान को प्राप्त करता है।[2]

और भी कहा है कि -

जाप्याज्जयेत् क्षयमरोचकमाग्निमान्द्यं ।
कुष्ठोदरात्मकसनश्वसनादि रोगान् ।
प्राप्नोति चाप्रतिमवाङ्महतीं महद्भ्यः ।
पूजां परत्र च गतिं पुरुषोत्तमाप्ताम् ॥

अर्थ - इस वर्णमातृका के जाप से योगी क्षयरोग, अरुचिपना, अग्निमंदता कुष्ट, उदररोग, कास तथा श्वास आदि रोगों को जीतता है और वचन सिद्धता, महान् पुरुषों से पूजा तथा परलोक में उत्तम पुरुषों से प्राप्त की हुई श्रेष्ठ गति को प्राप्त होता है।[3]

वर्गाष्टकं समादाय कर्णिकायां निरन्तरम् ।
ह्रींकारं संस्मरन्योगी प्रोद्धलन्तं वियत्प्रति ॥76॥

अन्वयार्थ : - तथा **(योगी)** योगी **(कर्णिकायां)** कमल की कर्णिका पर **(वर्गाष्टकं)** आठ वर्गों को **(समादाय)** ग्रहण कर **(वियत्प्रति प्रोद्धलन्त)** आकाश की तरफ उठता हुआ **(ह्रींकारं)** 'ह्रीं' इस बीजाक्षर का **(संस्मरन्)** ध्यान करता हुआ आगे कथित विद्या का ध्यान व जाप करें।

1.ज्ञा. 38 / 6 2.ज्ञा. 38/6 3. ज्ञा. 38/6

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

भावार्थ - ध्यानी को कमल कर्णिका पर आठ वर्ग अर्थात् समस्त अ,आ इत्यादि वर्ण समुदाय को ग्रहण कर, आकाश में चलते हुये ''ह्रीं'' बीजाक्षर का ध्यान करना चाहिए। पश्चात् आगे ग्रंथ के श्लोक के अनुसार विद्या का ध्यान व जाप करें।

ज्ञानार्णव में 'ह्रीं' बीजाक्षर का ध्यान कैसे करना चाहिए इस सन्दर्भ निम्न श्लोक दृष्टव्य हैं।

विस्फुरन्तमतिस्फीतं प्रभामण्डलमध्यमम्।
संचरन्तं मुखाम्भोजे तिष्ठन्तं कर्णि को परि॥
भ्रमन्तं प्रतिपत्रेषु चरन्तं वियति क्षणे।
छेदयन्तं मनोध्वान्तं स्रवन्तममृताम्बुभिः।
व्रजन्तं तालुरन्ध्रेण स्फुरन्तं भ्रूलतान्तरे।
ज्योतिर्मयमिवाचिन्त्यप्रभावं भावयेन्मुनिः॥

अर्थ - मायाबीज ह्रीं अक्षर को स्फुरायमान होता हुआ, अत्यन्त उज्वल प्रभामंडल के मध्य प्राप्त हुआ, कभी पूर्वोक्त मुखस्थ कमल में संचरता हुआ, कभी - कभी उसकी कर्णिका के उपरि तिष्ठता हुआ, तथा कभी-कभी उस कमल के आठों दलों पर फिरता हुआ तथा कभी-कभी क्षणभर में आकाश में चलता हुआ, मन के अज्ञान अन्धकार को दूर करता हुआ, अमृतमयी जल से चूता हुआ तथा तालुओं के छिद्र से गमन करता हुआ भौंहों की लताओं से स्फुरायमान होता हुआ, ज्योतिर्मय के समान अचिन्त्य है प्रभा जिसका ऐसे मायावर्ण का चिन्तवन करे।[1]

प्रणवस्य युगाभ्यां प्राग् मायाया युगलेन च।
पार्श्वयोर्युक्तर्मूर्धस्थ - न्यस्तहंसपदान्वितम्॥77॥

अन्वयार्थ :- **(प्राग्)** पहले **(प्रवणस्य युगाभ्यां)** दो ओंकार का युग्म **(च)** और **(पार्श्वयो)** दोनों तरफ **(मायाया युगलेन)** दो माया युगल ह्रीं ह्रीं और इनके **(ऊर्धस्य)** ऊपर **(हंसपदान्वितम्)** हंसपद **(न्यस्त)** रखकर ध्यान करे। अर्थात् ह्रीं ॐ ॐ ह्रीं हंसः इस मंत्र का ध्यान करें।

भावार्थ :- इस श्लोक का अर्थ ज्ञानार्णव ग्रंथ सर्ग 38 श्लोक 89 के आधार पर लिखा है जो समान अर्थ का ही प्रकाशक है - ध्यानी को ''ह्रीं ॐॐ ह्रीं हंसः'' इस मंत्र का प्रमाद रहित हो कर ध्यान करना चाहिये।

---

1. ज्ञा. 38/68-70

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अनाहतसमाक्रान्त- श्रीकारं मूर्धवर्जितम् ।
ध्यायन्नेतां जपेद्विद्यां स विद्याव्याप्तिवाञ्छया ॥78 ॥

अन्वयार्थ :- **(अनाहत समाक्रान्त)** ॐ से सहित - **(श्रीकारं मूर्ध वर्जितम्)** मकार से रहित श्री का **(सः)** वह योगी **(एतां विद्यां)** इस विद्या का **(ध्यायन्)** ध्यान करता हुआ **(जपेत्)** जाप करें।

भावार्थ - उपर्युक्त श्लोक के नीचे विद्या का ॐ श्री से युक्त कर योगी को ध्यान करना चाहिए अर्थात् **'ॐ श्री जोग्गे मग्गे तच्चे भूदे भव्वे भविस्से अक्खे पक्खे जिणपासे स्वाहा। ॐ ह्रीं अर्हं णमो अरहंताणं ह्रीं नमः।** इस सम्पूर्ण मंत्र का ध्यानपूर्वक जाप करना चाहिए।

ज्ञानार्णव में इस विद्या के सन्दर्भ में निम्न श्लोक उल्लिखित है।

श्री वीरवदनोद्भूतां विद्यां चाचिन्त्यविक्रमाम् ।
कलपवल्लीमिवा चिन्त्यफलसंपादनक्षमाम् ॥

विद्या च - ओं जोग्गे मग्गे तच्चे भूदे भव्वे भविस्से अक्खे पक्खे जिणपार्श्वे स्वाहा।

ॐ ह्रीं अर्हं नमोऽर्हं णमो अरहंताणं ह्रीं नमः ॥
विद्या जपति यदेमां निरन्तरं शान्तविश्वविस्पन्दः ।
अणिमादिगुणांलब्ध्वा ध्यानी शास्रार्णवं तरति ॥
त्रिकालविषयं साक्षाज्ज्ञानमस्योपजायते ।
विश्व तत्त्वप्रबोधश्च सतताभ्यासयोगतः ।

अर्थ :- श्री वीर प्रभु के मुख से निकली हुई जो विद्या अचिन्त्य पराक्रम से संयुक्त हुई कल्पलता के समान अचिन्त्य फल के सम्पादन करने में समर्थ है उसका योगी को ध्यान करना चाहिए। वह विद्या यह है - **ॐ जोग्गे मग्गे तच्चे भूये भविस्से अक्खे पक्खे जिणपार्श्वे स्वाहा। ॐह्रीं अर्हं नमोऽर्हं नमो अरहंताणं ह्रीं नमः।**

योगी जब समस्त अस्थिरता को नष्ट करके निरन्तर इस विद्या का ध्यान करता है तब वह अणिमा आदि गुणों को प्राप्त करके शास्त्र समुद्र के पार पहुंच जाता है - समस्त श्रुतका पारगामी हो जाता है उपर्युक्त विद्या के ध्यान विषयक निरन्तर अभ्यास के प्रभाव से उस योगी के साक्षात् तीनों कालविषयक वह ज्ञान केवल ज्ञान- उत्पन्न होता है जिसके द्वारा वह समस्त तत्त्वों को स्पष्टतया जानने लगता है।[1]

---

1. ज्ञा. 38/92-94

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

मस्तके वदने कण्ठे, हृदये नाभिमण्डले ।
ध्यायेच्चन्द्रकलाकारं, योगे प्रत्येकमम्बुजम् ।।79 ।।

अन्वयार्थ :- **(मस्तके)** मस्तक में **(वदने)** मुख में **(कण्ठे)** कण्ठ में **(हृदये)** हृदय में **(नाभिमण्डले)** नाभि के बीच में **(प्रत्येकमम्बुजम्)** प्रत्येक कमल पर **(योगे)** ध्यान में **(चन्द्रकलाकारं)** चन्द्रमा की कलाओं का **(ध्यायेत्)** ध्यान करे।

भावार्थ :- पदस्थ ध्यान के उल्लेख में मङ्गल रूप वर्णों का चिन्तवन के साथ-साथ इस विषय का नवीन प्रतिपादन आचार्य श्री जी ने किया है कि पाँच स्थानों पर अर्थात् मस्तक, मुख, कण्ठ, हृदय और नाभि में कमल की रचना करे और उन पत्रों पर चन्द्रमा की कलाओं का ध्यान करे। अन्यत्र जैन ध्यान के ग्रंथों में इस प्रकार का विषय उपलब्ध नहीं होता है। "योग-दर्शन" में महिर्ष पतञ्जलि ने चन्द्रमा में संयम करने उसके फल का उल्लेख निम्न प्रकार से किया है।

चन्द्रे तारा व्यूह ज्ञानम्।

अर्थात् चन्द्रमा में संयम करने से कौन तारा किस स्थान में टिका है, इसका यथावत् ज्ञान हो जाता है।[1]

उद्यदादित्यबिम्बाभं प्रभासंभारभास्वरम् ।
शोषयन्तं महास्नेहं प्लुष्यन्तं कर्मपञ्जरम् ।।80।।
स्वमशेषितकर्माणं नयन्तं परमास्पदम् ।
विश्वतो व्यापकं ध्याये - दङ्कारं नाभिवारिजे ।।81।।
तथाभूतमोङ्कारं हि मानसम्भोजवासितम् ।
कण्ठकन्दलसंलीन- मप्याकारं सरोजगम् ।।82।।
शिरः सरोरुहारुढं 'सि' वर्णं शशिरोचिषम् ।
साकारं च मुखाम्भोजे हारनीहारपाण्डुरम् ।।83।।

अन्वयार्थ - **(उद्यदादित्य बिम्बाभं)** उदित होते हुये सूर्य विम्ब की कांति के समान **(प्रभा संभार भास्वरम्)** प्रभा समूह से दे दीप्यमान **(महास्नेहं शोषयन्तं)** महान् राग रूपी स्नेह को शोषण करता हुआ **(कर्मपञ्जरम् प्लुष्यन्तं)** कर्म समूह को जलाता हुआ **(स्वमशेषित**

---

1. .यो.द.3/26

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

कर्माणं) स्वयं सम्पूर्ण कर्मो को शोषित कर दिया है ऐसे (परमास्पदम्) परम पद को (नयन्तं) ले जाता हुआ (विश्वतः व्यापकं) सब ओर फैले हुये (नाभिवारिजे) नाभिकलम में (अंकारं) अकार का, (तथा भूतमोङ्कारं) उपर्युक्त कहे हुये अकार के समान ही विशेषताओं से युक्त "ॐ" कार को (मानसोम्भोज वासितम्) हृदय में स्थित कमल पर (कण्ठकन्दलसंलीन) कण्ठ कन्दल पर स्थित (सरोजगम्) कमल पर (आकारं) 'आ' कार का (शिरः सरोरुहारुढं) सिर पर स्थापित कमल में (शशिराचिषम्) चन्द्रमा की किरणों के समान आभा वाले (सि वर्णं) सि वर्ण का तथा (मुखाम्भोजे) मुख कमल पर (हारनीहारपाण्डुरम्) मोती के हार के सामन तथा बर्फ के समान सफेद (साकारं) 'सा' वर्ण का (ध्यायेत्) ध्यान करे।

भावार्थ - आचार्य महाराज ने नाभिकमल में अकार, हृदय कमल में 'ॐ' कार, कण्ठ कमल में 'आ' मस्तक कमल पर 'सि' कार और मुख कमल में 'सा' वर्ण का अर्थात् पाँच स्थानों पर "असिआउसा" इन बीजाक्षरों का ध्यान करने का कथन किया है।

अ सि आ उसा के चिन्तवन करने का आत्मप्रबोध में फल बताते हुए कहा है कि -

अ-सि-आ-उ-साक्ष राणि क्षरंति न क्षणमपीह वैक्षेपात् ।
पंचापि यस्य मनसः स पंचमीं याति गतिमचिरात् ॥

अर्थ :- जो महानुभाव अ, सि, आ, सा, इन पांच अक्षरों को अपने मन से क्षण भर के लिये भी दूर नहीं करता- प्रतिक्षण जो इन्हीं का विचार करता रहता है वह शीघ्र ही पांचवीं गति को प्राप्त होता है अर्थात् -उसे निराकुलतामय मोक्ष सुख की प्राप्ति होती है।[1]

तथा ओंकार का ध्यान किस प्रकार करना चाहिए और उसका क्या फल होता है इस संदर्भ में आत्म प्रबोध में कहा है कि -

ओंकार शब्द पाँच ज्ञान रूप भी है - अर्थात् पांच ज्ञानों का जो फल होता है, वही इसके चिन्तवन से होता है -

अभिनिबोधकेन समममागममवधिमनःसपर्ययं
संयोज्याथ बोधमुत्कृष्टं केवलनाम निर्मलं ।।
अमृतकलालयं च मोक्षाक्षरमुपरि नियोज्य विरचितः।
प्रणवः पंचबोधफलनिचयं रचयतु पाञ्चबोधिकः ।।

अर्थ :- अभिनिबोधक - मतिज्ञान का 'अ', आगम-श्रुतज्ञान का 'आ'

1. (आ.प्र./113)

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अवधिज्ञान का 'अ', अन्तः करण - मनः पर्ययज्ञान का 'अ', ऐसे चार ज्ञान के अ +आ+ अ+अ+ तथा उत्कृष्ट केवलज्ञान का 'उ' इन सबकी संधि करने पर 'ओ' शब्द बनेगा उसके ऊपर अमृत कला स्वरूप मोक्ष का आदि अक्षर 'म' को भी ऊपर रखकर बनाया गया ओंकार शब्द पाँच ज्ञान वाचक है जिसका पाँच ज्ञान प्राप्त होना फल है उसे बनाकर 'ओं' का ध्यान करो।[1]

तथा ज्ञानार्णवकार ने ओंकार का भिन्न - भिन्न वर्णों में ध्यान करने से विविध फलों की प्राप्ति होती है - यह भाव निम्न श्लोक में प्रदर्शित किया है -

सान्द्रसिंदूरवर्णाभं यदि वा विद्रुमप्रभम्।
चिन्त्यमानं जगत्सर्वं क्षोभयत्यभिसंगतम् ॥
जाम्बूदनिभं स्तम्भे विद्वेषे कज्जलत्विषम्।
ध्येयं वश्यादिके रक्तं चन्द्राभं कर्मशातने ॥

अर्थ :- यह प्रवण अक्षर गहरे सिंदूर के वर्ण के समान अथवा मूंगे के समान चिन्तवन किया हुआ सम्पूर्ण जगत को क्षोभित करता है। तथा इस प्रवण को स्तंभन के प्रयोग में सुवर्ण के समान पीला चिंतवन करें और द्वेष के प्रयोग में कज्जल के समान काला तथा वश्यादि प्रयोग में रक्त (लाल) वर्ण और कर्मों के नाश करने में चन्द्रमा के समान श्वेतवर्ण, ध्यान करें।[2]

स्वसंवेगकृदन्यच्च यन्निर्वेदविधायकम्।
पदाक्षरमेकं वा योगी ध्यायन्न नश्यति ॥84॥

अन्वयार्थ :- **(यत्)** जो **(स्व संवेग)** अपने संवेग **(च)** और **(निर्वेद)** निर्वेद को **(कृत्)** करने वाले **(अन्यत्)** अन्य **(पदाक्षरंमेकं वा)** पद या एक अक्षर का ध्यान **(विधायकम्)** करता हुआ **(योगी)** योगी **(ध्यायन्)** ध्यान करता हुआ **(नश्यति)** च्युत नहीं होता है अर्थात् किसी प्रकार का चिंतवन करते रहने से उसके ध्यान का अभ्यास बना रहता है।

भावार्थ- पदस्थ ध्यान के फल का विवेचन करते हुये यहाँ बतलाया है - जो योगी निर्वेद और संवेग भाव को उत्पन्न करने वाले पदों का या अक्षरों का ध्यान करता है वह योगी ध्यान के अभ्यास से च्युत नहीं होता है अर्थात् उसका निरन्तर ध्यान में चित्त लगा रहता है।

वीतरागो भवन् योगी यच्च किञ्चद्विचिन्येत्।
तदेव ध्यानमाम्नात- मतोऽन्ये ग्रन्थविस्तराः ॥85॥

---

1. आ.प्र. /117 2. ज्ञा. 38/36-37

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अन्वयार्थ - (वीतरागो भवन् योगी) वीतरागभाव से युक्त योगी **(यत्)** जो **(किञ्चद्)** कुछ भी **(विचिन्तयेत्)** चिंतवन करता है **(तदेव)** वह ही **(ध्यानं)** ध्यान है **(अतः अन्ये)** इससे अन्य **(आम्नातं)** परम्परा से आगत **(ग्रन्थतिस्तराः)** ग्रन्थ विस्तार है।

भावार्थ :- वीतरागभाव से युक्त योगी जिस पदार्थ को भी ध्यान का आलम्बन बनाता है, वह ही पदार्थ ध्यान की उत्पत्ति में कारण बन जाता है। यहाँ वीतराग भाव ध्याता का प्रमुख गुण होना चाहिये क्योंकि वह ही चित्त स्थिरता और निराकुल सुख का कारण है।

योगी का जो वीतराग भाव है वही यथार्थ में ध्यान है क्योंकि ध्यान का कार्य कर्म निर्जरा और कर्म निर्जरा बिना वीतराग भाव के नहीं होती, वीतराग भाव के बिना किया गया ध्यान कर्म निर्जरा का कारण नहीं है उस ध्यान के माध्यम से किञ्चित लौकिक लाभ तो हो सकता है किन्तु अतीन्द्रिय सुख की प्राप्ति नहीं हो सकती।

वृहद् द्रव्य संग्रह में कहा भी है कि

जं किंचिवि चिंतंतो णिरीहवित्ती हवे जदा साहू।
लद्धूण य एयत्तं तदाहु तं तस्य णिच्छयं ज्झाणं॥

अर्थ :- ध्येय में एकाग्रचित होकर जिस किसी पदार्थ का ध्यान करते हुए साधु जब निरीह होते हैं तब उनका वह ध्यान निश्चय ध्यान होता है।[1]

योगी के लिए लोक में कोई पदार्थ ध्येय हो सकते हैं इसी बात की पुष्टि धवला पुस्तक 13 में निम्न गाथा में की है -

आलंबणेहि भरियो लोगो ज्झाइदुमणस्स खवगस्स।
जं जं मणसा पेच्छद तं तं आलंबणं होइ ॥

अर्थ :- यह लोक ध्यान के आलम्बनों से भरा हुआ है। ध्यान में मन लगाने वाला क्षपक मन से जिस जिस वस्तु को देखता है वह वह वस्तु ध्यान का आलम्बन होती है।[2]

प्रमाणनयनिक्षपैरात्मतत्त्वमवैति यः।
स वेत्ति परमात्मानं परमात्मानमर्थते ॥86॥

अन्वयार्थ :- (यः) जो **(प्रमाणनयनिक्षेपैः)** प्रमाण, नय और निक्षेपों

1. बृ.द्र.सं. /55 2. ध 13 /70

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

के द्वारा **(आत्म-तत्त्वम्)** आत्म तत्त्व को **(अवैति)** जानता है **(सः)** वह **(परमात्मानं)** परमात्मा को **(वेत्ति)** जानता है तथा **(परमात्मानं)** परमात्मा को **(अर्थते)** प्राप्त कर लेता है।

भावार्थ :- जो योगी प्रमाण, नय और निक्षेप से आत्म तत्त्व को जानता है वह परमात्मा के यथार्थ स्वरूप को जानता है तथा वह परमशुद्ध परमात्म अवस्था को प्राप्त कर लेता है।

त्रिकालविषयं साक्षाच्छक्तिव्यक्तिविवक्षया ।
सामान्येन नयेनैकं परमात्मानमर्थतः ॥87 ॥

अन्वयार्थ :- **(त्रिकालविषयं)** त्रिकाल विषयक सम्पूर्ण पदार्थों को जानने की शक्ति तो आत्मा और परमात्मा दोनों में है किन्तु **(साक्षाच्छक्तिव्यक्तिविवक्षया)** साक्षात् शक्ति की व्यक्ति की विवक्षा केवल परमात्मा में है **(सामान्येन नयेन)** सामान्य नय से अर्थात् द्रव्यार्थिक नय से **(परमात्मानयर्थतः)** परमात्मा तथा आत्मा वास्तव में **(एकं)** एक है।

भावार्त :- सामान्य ज्ञान गुण की अपेक्षा से यदि संसारी आत्मा और परमात्मा की तुलना की जाय तो दोनों में समानता है, दोनों में स्वसंवेदन, चेतनत्व शक्ति, दर्शन गुण आदि समान रूप से ही विद्यमान हैं किन्तु संसारी आत्मा के साथ कर्मों का सद्भाव होने के कारण पूर्ण शुद्ध अवस्था की व्यक्ति नहीं हुई है। परमात्मा के सम्पूर्ण कर्मों का अभाव होने के कारण स्वभावगत गुणों का पूर्ण शुद्ध स्वरूप प्रकट हो गया है। सभी जीव शुद्ध नय से शुद्ध है इसी अभिप्राय की पुष्टि द्रव्य संग्रह में निम्न कारिका में की गई है।

मग्गणगुणठाणेहि य चउदसहि हवंति तह असुद्धणया।
विण्णेया संसारी सव्वे सुद्धा हु सुद्धणया ॥

अर्थ :- संसारी जीव अशुद्ध नय की दृष्टि से चौदह मार्गणा तथा चौदह गुणस्थानों के भेद से चौदह-चौदह प्रकार के होते हैं और शुद्ध नय से सभी संसारी जीव शुद्ध हैं।[1]

---

1. वृ.द्र.सं./13

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

इसी बात की पुष्टि नियमसार में निम्नगाथासूत्र में की है -

सव्वे सिद्धसहावा सुद्धणया संसिदी जीवा ।

शुद्ध नय से संसार में रहने वाले सब जीव सिद्ध स्वरूप वाले हैं ।[1]

कल्याणातिशयैराद्यो नवकेवललब्धिमान् ।
सभास्थितो जिनो ध्येयः प्रातिहार्यैः परिष्कृतः ॥88॥

अन्वयार्थ :- **(कल्याणातिशयैराद्यो)** पंचकल्याणमय अतिशयों से सहित **(नवकेवललब्धिमान्)** नौ क्षायिक लब्धियों से सहित **(प्रातिहार्यैः परिष्कृतः)** अष्ट प्रातिहार्यो से युक्त **(सभास्थितः)** समवशरण में स्थित **(जिनेः)** जिनेन्द्र भगवान **(ध्येयः)** ध्यान करने योग्य है अर्थात् समवशरण में स्थित जिनेन्द्र भगवान का ध्यान करना चाहिये ।

भावार्थ :- पंच कल्याणमय अतिशयों से सहित, नौ क्षायिकलब्धियों से युक्त तथा अष्ट प्रातिहार्य से युक्त, समवशरण मे स्थित जिनेन्द्र भगवान ध्यान करने योग्य हैं । यहाँ पर आचार्य महाराज पदस्थ ध्यान का वर्णन करने के उपरांत रुपस्थ ध्यान का वर्णन कर रहे हैं जो रूपवान् पदार्थ का ध्यान किया जाता है वह रूपस्थ ध्यान कहलाता है ।

आत्मप्रबोध में कहा भी है -

रुपद्धस्तुति ध्यानं रुपस्थं रुपितं जिनैः ।

रूपवान् मूर्तिक पदार्थ में जो ध्यान किया जाता है उसे जिनेन्द्र भगवान ने रूपस्थ ध्यान कहा है ।[2]

उपर्युक्त अभिप्राय को पुष्ट करने के लिये आत्मप्रबोध में अर्हन्त परमेष्ठी का किस प्रकार ध्यान करना चाहिये उसका निम्न प्रकार से उल्लेख किया गया है ।

रक्ताशोकातपत्रत्रयचमरमरुन्मंडली पुष्पवृष्टि ।
स्पष्टोद्यद्दिव्यघोषद्युतिवलयमहासिंहपीठद्युवाद्यैः ।
साश्चर्यैः प्रातिहार्यैर्युगपदतिशयैर्भ्राजमानःसमगै
र्घ्येयः श्री मंडपांतः प्रणतपदयुगो योगिवृंदैर्जिनेंद्रः ॥

अर्थ :- जो योगी रूपस्थध्यान के आराधन करने वाले हैं उन्हें अशोक वृक्ष, तीन छत्रं, चमर, सुगंधित पवन, पुष्प वर्षा, दिव्यध्वनि, भामण्डल और सिंहासन

---

1. नि.सा. /49 2.आ. प्र. /125

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

इन आठ प्रातिहार्य और चौंतीस प्रकार के अतिशयों से मंडित, देव, इंद्र, नरेन्द्र आदि से पूजित, समवसरण में स्थित भगवान जिनेन्द्र का ध्यान करना चाहिये।[1]

सर्वलक्षणसम्पूर्णनिर्मले मणिदर्पणे ।
संक्रान्तबिम्बसादृश्यं शान्तं स चिन्तयेद्विभुम् ।।89।।

अन्वयार्थ :- **(सर्वलक्षणसम्पूर्ण)** सम्पूर्ण लक्षण से युक्त **(निर्मले)** निर्मल **(मणिदर्पणे)** मणिमय दर्पण में **(संक्रान्तबिम्बसादृश्यं)** संक्रामित हुए प्रतिबिम्ब के समान **(शान्तं)** शान्त **(स)** उन **(विभुम्)** भगवान का **(चिन्तेयद्)** चिन्तन करना चाहिए अर्थात् ध्यान करना चाहिए।

भावार्थ :- उपर्युक्त प्रकार से अर्हन्त परमेष्ठी का ध्यान करना चाहिए।

सर्वज्ञः सर्वदृक् सार्वो निर्मलो निष्कलोऽव्ययः।
वीतरागः परोदेवः योगिनो योगगोचरः ।।90।।
मूषागर्भेगताशेष - माक्षिकप्रतिमो भवेत् ।
यादृगाकारसंस्थानं तादृगाकृतिकं स्मरेत् ।।91।।

अन्वयार्थ :- **(सर्वज्ञः)** जो सर्वज्ञ है **(सर्वदृक्)** सर्वदर्शी है **(सार्वः)** सभी का हित करने वाले हैं **(निर्मलः)** निर्मल, **(निष्कलः)** शरीर से रहित **(अव्ययः)** व्यय से रहित **(वीतरागः)** वीतरागी **(परोदेवः)** उष्कृष्ट देव **(योगिनः)** योगियो के **(योगगोचरः)** ध्यान के गोचर है। **(मूषागर्भेग-ताशेष-माक्षिकप्रतिमो भवेत्)** सांचे में डाला हुआ मोम जिस प्रकार सांचे के आकार का होता है उसी प्रकार **(यादृगाकारसंस्थानं)** जिस आकार अर्थात् शरीर से मोक्ष जाते हैं **(तादृगाकृतिकं)** उस शरीर के आकार प्रमाण सिद्धों की आत्मा रहती है **(स्मरेत्)** इस प्रकार उनका ध्यान करना चाहिए।

भावार्थ :- यहाँ पर आचार्य श्री रूपस्थ ध्यान का विवेचन करते हुए कहते हैं सिद्ध परमेष्ठी का ध्यान इस प्रकार करना चाहिये कि जो सर्वज्ञ है, सर्वदर्शीः निर्मल, शरीर रहित, अव्यय, वीतरागदेव, योगियों के ध्यान गोचर है तथा जिस प्रकार सांचे में डाला हुआ मोम सांचे के आकार का

---

1. आ.प्र. /126

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

जाता है. उसी प्रकार शरीर के जिस आकार से जीव (सिद्ध) मोक्ष जाते हैं, उस शरीर के आकार प्रमाण सिद्धों की आत्मा रहती है - उनका ध्यान करना चाहिये।

इसी अभिप्राय की विशेष अवधारणा कराने के लिए तत्त्वानुशासन में निम्न श्लोक कहे गये हैं -

अनन्त- दर्शन-ज्ञान- सम्यक्त्वादि-गुणात्मकम् ।
स्वोपात्ताऽनन्तर-त्यक्त-शरीराऽकार-धारिणम् ॥
साकारं च निराकारममूर्तमजराऽमरम् ।
जिन-विम्बमिव स्वच्छ-स्फटिक-प्रतिबिम्बतम् ॥
लोकाऽग्र-शिखरा ऽऽ रूढमुदूढ-सुखसम्पदम् ।
सिद्धात्मानं निराबाधं ध्यायेन्निर्धूत-कल्मषम् ॥

अर्थ :- जो अनन्तदर्शन, अनन्तज्ञान और सम्यक्त्वादि गुणमय है, स्वगृहीत और पश्चात् परित्यक्त ऐसे (चरम) शरीर के आकार का धारक है। साकार और निराकार दोनों रूप है, अमूर्त है, अजर है, अमर है स्वच्छस्फटिक में प्रतिबिम्बत जिनबिम्ब के समान है, लोक के अग्रशिखर पर आरूढ़ है, सुख सम्पदा से परिपूर्ण है, बाधाओं से रहित और कर्मकलंक से विमुक्त है उन सिद्धात्मा को ध्याता ध्यावे।[1]

अनन्यशरणस्तद्धि तत्संलीनैकमानसः ।
तद्गुणस्तत्स्वभावात्मा तत्तादात्म्यं स एव सन् ॥92॥

अन्वयार्थ :- **(तत्संलीनैकमानसः)** सिद्धो में लीन हैं मन जिसका ऐसे जीव को **(तद् हि अनन्यशरणः)** निश्चय से वही अनन्य शरण है **(तद्)** उन सिद्ध के **(गुणस्तत्स्वभावात्मा)** गुणों का विचार करने से **(तत्)** विचार करने वाला **(तादात्म्यं सन् स एव)** आत्म गुणों से तन्मय होता हुआ स्वयं सिद्ध रूप हो जाता है।

भावार्थ :- जो योगी सिद्धपरमेष्ठी के गुणों का ध्यान करता है वह ध्यानी सिद्ध रूप अवस्था को प्राप्त कर लेता है क्योंकि तत्त्वानुशासन में कहा भी है कि -

परिणमते येनाऽऽत्मा भावेन स तेन तन्मयो भवति।
अर्हद्ध्यानाऽऽविष्टो भावार्हन् स्यात्स्वयं तस्मात् ॥

1.त.शा./120-122

Gaṇesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

येन भावेन यद्रूपं ध्यायत्यात्मानमात्मवित् ।
तेन तन्मयतां याति सोपाधिः स्फटिको यथा ॥

अर्थ :- जो आत्मा जिस भावरूप परिणमन करता है वह उस भाव के साथ तन्मय होता है अतः अर्हद्ध्यान से व्याप्त आत्मा स्वयं भाव अर्हन्त होता है। आत्मज्ञानी आत्मा को जिस भाव से जिस रूप ध्याता है उसके साथ वह उसी प्रकार तन्मय हो जाता है जिस प्रकार कि उपाधि के साथ स्फटिकमणि ।[1]

योजयेत्तद्गुणग्रामैरात्मानं परमात्मना ।
तद्भावभावितो भव्यस्तत्स्वरूपमुपाश्नुते ॥93॥

अन्वयार्थः- **(भव्यः)** भव्य जीव **(परमात्मना)** परमात्मा और **(तद्गुणाग्रामैः)** उनके गुणों के गान में **(आत्मानं योजयेत्)** अपनी आत्मा को लगावे **(तद्भाव)** ऐसी भावना से **(भावितः)** भावित भव्य **(तत्स्वरूपमुपाश्नुते)** सिद्धों के स्वरूप को प्राप्त करता है।

भावार्थः- जो भव्य उन सिद्धों के ध्यान में अपने मन को संयोजित करता है वह सिद्ध अवस्था को प्राप्त करता है ।

त्रिकालगोचरानन्त - गुणपर्यायसङ्गतः ।
अनादिनिधनोऽमूर्तः संख्यातीतप्रदेशयुक् ॥94॥
निष्कलः परमात्माऽहं लोकालोकावभासनः ।
विश्वव्यापी स्वभावस्थो विकारपरिवर्जितः ॥95॥

अन्वयार्थः- **(त्रिकालगोचर)** सिद्ध भगवान त्रिकाल गोचर **(अनन्त गुणपर्याय सङ्गतः)** अनन्त गुणपर्यायों से सहित **(अनादिनिधनः)** अनादिनिधन **(अ मू र्तः)** अमूर्तिक **(संख्यातीत प्रदेश युक्)** असंख्यात प्रदेशी है। **(निष्कलः)** निष्कल **(परमात्मा)** परमात्मा **(लोकलो-कावभासनः)** लोकलोक के ज्ञाता **(विश्व व्यापी स्वभावस्थः)** विश्व व्यापी स्वभाव में अवस्थित **(विकारपरिवर्जितः)** विकार से रहित है। ठीक इसी प्रकार **(अहं)** शुद्ध नय से मेरा भी स्वरूप है अर्थात् ध्याता जब शुद्धनय की अपेक्षा से विचार करता है तो सिद्धों के समान-ही आत्म स्वरूप का चिन्तन करता है।

---

1. त.अनु. /190-191

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

इतीदृक् पुरुषाकारः स्वाङ्गगर्भगतः स्फुरन्।
सर्वदा परमात्मैव ध्येयः शुद्धस्वभावभाक् ॥96॥

अन्वयार्थः- **(इतीदृक्)** इस प्रकार ऐसे **(पुरूषाकारः)** पुरूषकार परमात्मा का **(स्वाङ्गगर्भगतः)** अपने शरीर के भीतर स्थित **(स्फुरन्)** प्रकाशमान होता हुआ **(शुद्धस्वभावभाक्)** शुद्ध स्वभाव को प्राप्त **(परमात्मैव)** परमात्मा का ही **(सर्वदा)** हमेशा **(ध्येयः)** ध्यान करना चाहिए।

एवं शुद्धनयालम्बी सर्वास्रवमशेषयेत् ॥
महासंवरमध्यस्थो कर्मकक्षं विनिर्दहेत् ॥97॥

अन्वयार्थः- **(एवं)** इस प्रकार (**शुद्धनयालम्बी)** जो शुद्ध नय का आलम्बन लेने वाला ध्याता **(सर्वास्रवमशेषयेत्)** सम्पूर्ण आश्रवों को रोके **(महासंवरमध्स्थः)** महा संवर से युक्त होता हुआ **(कर्मकक्षं विनिर्दहेत्)** कर्म वन को नष्ट करे।

द्वादशानुप्रेक्षाः

ध्यानस्यालम्बनीभूता धर्मस्य द्वादशा पराः।
अत्रैवानुगतः सम्य-गनुप्रेक्षाश्च चिन्तयेत् ॥98॥

अन्वयार्थः- **(धर्मस्य ध्यानस्य)** धर्म ध्यान के **(आलम्बनीभूता)** आलम्बन स्वरूप **(अत्रैव)** इन ही (यहाँ पर ही) **(द्वादशाः पराः)** बारह भावनाओं की **(अनुगतः)** शरण को प्राप्त **(सम्यगनुप्रेक्षाश्च)** समीचीन प्रकार से बार बार **(चिन्तयेत्)** चिन्तन करे।

भावार्थः- धर्मध्यान को उपादेयभूत जानकर धर्मध्यान के लिए आलम्बन स्वरूप बारह भावनाओं का निरन्तर सम्यक् रूप से चिन्तवन करना चाहिए। ज्ञानार्णव में भी अनुप्रेक्षा के महत्व को दर्शित कहते हुये कहा है कि-

ताश्च संवेगवैराग्य यमप्रशममसिद्धये ।
आलानिता मनः स्तम्भे मुनिभिर्मोक्तुमिच्छुभिः ॥

अर्थः- उन भावनाओं को मोक्षभिलाषी मुनियों ने अपने में संवेग (धर्मानुराग) वैराग्य (संसार से उदासीनता) यम (महाव्रतादि चारित्र) और प्रशम की (कषायों के अभावरूप शान्त भावों की) सिद्धि के लिये अपने चित्तरूपी स्तंभ में आलानित

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

कहिये ठहराई वा बाँधी है।[1]

अशाश्वतं शरीरादि कर्मबन्धनिबन्धनम् ।
जीवसम्बन्धमन्यद्यज्ज्ञानदर्शनसंपदः ॥99॥

अन्वयार्थः- **(शरीरादि)** शरीर आदि **(अशाश्वतं)** नष्ट होने वाले है, **(कर्मबन्धनिबन्धनम्)** कर्म बन्ध के कारण है, **(जीवसम्बन्धमन्यद्)** जीव शरीरादि संबंध से भिन्न स्वभाव वाला है **(यज्ज्ञानदर्शनसंपदः)** तथा जो ज्ञानदर्शन सम्पत्ती से युक्त है।

भावार्थः- आचार्य श्री यहाँ पर आनित्य भावना का स्वरूप निर्देश करते हुये कहते है कि शरीर नाश होने वाला है तथा कर्मबंध का कारण है जीव नित्य है तथा ज्ञान दर्शन लक्षण वाला है।

सर्वार्थसिद्धि में अनित्य भावना का स्वरूप उपर्युक्त प्रकार से व्यक्त किया है जो निम्नलिखित है-

इमानि शरीरेन्द्रियविषयोपभोगद्रव्याणि समुदयरूपाणि जल-बुद्बुद्वदन-वस्थितस्वभावानि गर्भादिष्ववस्थाविशेषेषु सदोपलभ्यमानसंयोगविपर्ययाणि, मोहादत्राज्ञोनित्यतां मन्यते। न किंचित्संसारे समुदितं ध्रुवमस्ति आत्मनो ज्ञानदर्शनोपयोगस्वभावादन्यदिति चिन्तनमनित्यनुप्रेक्षा।

अर्थः- ये समुदायरूप शरीर, इन्द्रियविषय, उपभोग और परिभोग द्रव्य जल के बुलबुले के समान अनवस्थित स्वभाव वाले है तथा गर्भादि अवस्था विशेषों में सदा प्राप्त होने वाले संयोगों से विपरीत स्वभाव वाले हैं। मोहवश अज्ञ प्राणी इनमें नित्यता का अनुभव करता है पर वस्तुतः आत्मा के ज्ञानोपयोग और दर्शनोपयोग स्वभाव के सिवा इस संसार में अन्य कोई भी पदार्थ ध्रुव नहीं है इस प्रकार चिन्तन करना अनित्यानुप्रेक्षा है।[2]

मृत्युव्याघ्रसमाघ्रातं संसारारण्यवर्तिनम् ।
जीवैणीशावकं पातुं नान्योऽलं जिनशासनात् ॥100॥

अन्वयार्थः- **(संसार)** संसार रूपी **(अरण्यवर्तिनम्)** वन के मध्य में **(मृत्युव्याघ्रसमाघ्रातं)** मृत्यु रूपी व्याघ्र से युक्त **(जीवैणीशावकं)** जीव रूपी हिरणी के बच्चे को **(जिनशासनात्)** जिन शासन के अलावा **(पातुं)**

---

1. ज्ञा 2/6 2. स.सि. 9/7

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

रक्षा करने को **(अन्यः)** अन्य को भी **(अलं न)** समर्थ नहीं है।

भावार्थः- अशरण भावना का स्वरूप बतलाते हुये आचार्य महाराज कहते है कि जैसे महावन में व्याघ्र द्वारा पकड़े हुये हिरण के बच्चे को मरण से बचाने में कोई समर्थ नही है उसी प्रकार आयुकर्म पूर्ण होने पर इस जीव को बचाने में कोई समर्थ नहीं है। जीव को यदि कोई शरण है तो एकमात्र जिनशासन ही है- इसी भाव को बारस अनुवेक्खा में आचार्य कुन्दकुन्द महाराज ने निम्नप्रकार व्यक्त किया है-

मणिमतीसहरक्खा हयगयरहओ य सयलविज्जाओ।
जीवाणं णहि सरणं तिसु लोए मरणसमयम्हि ॥

अर्थः- मरते समय प्राणियों को तीनों लोकों में मणि, मन्त्र, औषध, रक्षक घोड़ा हाथी, रथ और जितनी विद्याएँ वे कोई भी शरण नहीं है अर्थात् ये सब उन्हें मरने से नहीं बचा सकते।[1]

कार्तिकेयानुप्रेक्षा में जीव के शरणभूत क्या है ? इसका विवेचन निम्न कारिका में किया है-

दंसणणाणचरित्तं सरणं सेवेह परम-सद्धाए ।
अण्णं किं पि ण सरणं संसारे संसरंताणं ॥

अर्थः- हे भव्य ! सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र शरण है। परम श्रद्धा के साथ उन्हीं का सेवन कर। संसार में भ्रमण करते हुए जीवों को उनके सिवाय अन्य कुछ भी शरण नहीं है।[2]

कर्मपोतं समारूह्य दुःखभाण्डभरो नरः ।
संकल्पश्वसनैर्नूनं बंभ्रमीति भवोदधौ ॥101॥

अन्वयार्थः- **(नूनं)** निश्चित रूप से **(नरः)** जीव **(कर्मपोतं)** कर्मरूपी जहाज पर **(समारूह्य)** आरूढ होकर **(दुःख भाण्डभरः)** दुःख रूपी भार से भरा है **(संकल्पश्वसनैः)** संकल्प रूपी सासों के द्वारा **(भवोदधौ)** संसार समुद्र में **(बंभ्रमीति)** भ्रमण करता है।

भावार्थ - संसारानुप्रेक्षा का स्वरूप बतलाते हये "बारस अनुवेक्खा" में कहा है कि -

संसार मदिक्कंतो जीवोवादेयमिदि विचिंतिज्जो ।
संसार दुहक्कंतो जीवो सो हेयमिति विचिंतिज्जो ॥

1.बा.अ. /8 2. का.अ/30

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

जो जीव संसार से पार हो गया है, वह तो उपादेय अर्थात् ध्यान करने योग्य है, ऐसा विचार करना चाहिए और जो संसार रूपी दुःखों से घिरा हुआ है वह हेय है ऐसा चिन्तवन करना चाहिए।[1]

उन्मज्जन्विनिर्मज्जन् च जीवः संसारसागरे ।
दुर्मोहान्धो भ्रमत्येको दुःखैर्वानलदीपितः ॥102॥

अन्वयार्थः- **(संसारसागरे)** संसाररूपी समुद्र में **(उन्मज्जन्विनिर्मज्जन् च)** उन्मज्ञन और निमञ्जन करता हुआ **(जीवः)** यह जीव **(दुर्मोहान्धः)** मोह से अंधा **(दुःखैवानिलदीपितः)** दुःख रूपी अग्नि से संतप्त हुआ **(एकः)** अकेला **(भ्रमति)** भ्रमण करता है।

भावार्थः- एकत्व अनुप्रेक्षा में इस प्रकार विचार करना चाहिए कि जीव अपने स्वकृत पुण्य पापकर्म के अनुसार ही सुरनरकादि गतियों में दुःख से पीड़ित हुआ अकेला ही परिभ्रमण किया करता है सर्वार्थसिद्धि ग्रंथ के विषय में एकत्व अनुप्रेक्षा में निम्न प्रकार से कहा गया है-

जन्मजरामरणावृत्तिमहादुःखानुभवनं प्रति एक एवाहं न कश्चिन्मे स्वः परो वा विद्यते। एक एव जायेऽहम्। एक एवम्रिये। न में कश्चित् स्वजनः परजनो वा व्याधिजरा मरणादीनि दुःखान्यपहरति। बन्धुमित्राणिश्मशानं नातिवर्तन्ते। धर्म एव मे सहायः सदा अनपायीति चिन्तनमेकत्वानुप्रेक्षा।

अर्थः- जन्म जरा और मरण की आवृत्तिरूप महादुःख का अनुभवन करने के लिए अपेक्षा मैं ही हूँ न कोई मेरा स्व है और न पर है अकेला ही मैं जन्मता हूँ और अकेला ही मरता हूँ, न मेरा कोई स्वजन या परजन व्याधि जरा और मरण आदि दुःखों को दूर नहीं करता। बन्धु और मित्र श्मशान से आगे नहीं जाते। धर्म ही मेरा कभी साथ न छोड़ने वाला सदा काल सहायक है। इस प्रकार चिन्तन करना एकत्वानुप्रेक्षा है।[2]

अन्योऽहं देहतोऽमुष्माद्बन्ध प्रत्येकवानपि ।
स्वलक्षणविवक्षायाः स्वर्णे कालिकादिवत् ॥103॥

अन्वयार्थः- **(बन्धं)** कर्म बन्ध की **(प्रति)** अपेक्षा **(एकवानपि)** एक होते हुए भी **(स्वलक्षण विवक्षायाः)** अपने लक्षण भेद की अपेक्षा **(अमुष्माद् देहतः)** इस शरीर से **(अहं)** मैं **(अन्यः)** अन्य हूँ अर्थात्

1. वा.अ. /38 2. स.सि. 9/4

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

शरीर अन्य है मेरी आत्मा अन्य है। **(स्वर्णेकालिकादिवत्)** जिस प्रकार स्वर्ण और किट्टि कालिमा पृथक्-पृथक् है।

भावार्थः- देह में देही का निवास होने पर भी देह और देही स्व-स्वलक्षण की अपेक्षा भिन्न-भिन्न ही हैं। जीव ज्ञानवान् है और शरीर जड़ है। मैं (आत्मा) अन्य हूँ और शरीर भिन्न है इस प्रकार विचार करना अन्यत्वानुप्रेक्षा है। सर्वार्थसिद्धि में आगत अन्यत्वानुप्रेक्षा का स्वरूप दृष्टव्य है।

शरीरादन्यत्वचिन्तनमन्यत्वानुप्रेक्षा । तद्यथा बन्धं प्रत्येकत्वे सत्यपि लक्षणभेदादन्योऽहमैन्द्रियकं शरीरमतीन्द्रियोऽहमज्ञं शरीरं ज्ञोऽहमनित्यं शरीरं नित्योऽमाद्यन्तवच्छशरीरमनाद्यनन्तोऽहम्। बहूनि में शरीर शतसहस्राण्यतीतानि संसारे परिभ्रमतः । स एवाहमन्यस्तेभ्य इत्येवं मे किमङ्ग पुनर्बाह्येभ्यः परिग्रहेभ्यः।

अर्थः- शरीर से अन्यत्व का चिन्तन करना अन्यत्वानुप्रेक्षा है यथा बन्ध के प्रति अभेद होने पर भी लक्षण के भेद से मैं अन्य हूँ। शरीर ऐन्द्रियक है मैं अतीन्द्रिय हूँ। शरीर अज्ञ है, मैं ज्ञाता हूँ। शरीर अनित्य है मैं नित्य हूँ। शरीर आदि अन्तवाला है और मै अनाद्यनन्त हूँ। संसार में परिभ्रमण करते हुए मेरे लाखों शरीर अतीत हो गए। उनसे भिन्न वह ही मैं हूँ। इस प्रकार शरीर से भी जब मैं अन्य हूँ तब हे वत्स ! मैं बाह्य पदार्थों से भिन्न होऊं तो इसमें क्या आश्चर्य ?[1]

शरीरं विश्वतः शश्व-दशौचं बीजदोषतः ।
स्वतुल्यात् कारणान्नित्यं कार्यमुत्पद्यते यतः ॥104॥

अन्वयार्थः- **(बीजदोषतः)** बीज दोष से **(शरीरं)** शरीर **(शश्वतदशौचं विश्वतः)** हमेशा पूर्णतः अपवित्र रहता है **(यतः)** क्योंकि **(स्वतुल्यात्)** अपने तुल्य **(कारणात्)** कारण से **(नित्यं)** हमेशा **(कार्यमुत्पद्यते)** कार्य उत्पन्न होता है।

भावार्थः- अशुचित्व अनुप्रेक्षा का निर्देश करते हुये आचार्य महाराज बतलाते है कि यह शरीर अशुचि पदार्थ रजवीर्यादि के संयोग से बना हुआ है तथा सदा काल अशुचि रूप ही रहता है क्योंकि कारण के सदृश ही कार्य की उत्पत्ति होती है। इस प्रकार शरीर के अशुचिपने का चिन्तवन

---

1. स.सि. 9/7

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

करना अशुचित्व अनुप्रेक्षा है-

आचार्य कुन्द कुन्द महर्षि ने ''बारस अणुवेक्खा'' में अशुचि अनुप्रेक्षा का स्वरूप निम्न प्रकार से निर्देश किया है -

दुग्गंधं बीभच्छं कलिमलभरिदं अचेयणं मुत्तं ।
सडणप्पडणसहावं देहं इदि चिंतए णिच्चं ॥44॥

अर्थः- यह शरीर दुर्गन्ध से युक्त है, घृणित है, गन्दे मल से भरा हुआ है अचेतन है, मूर्तिक है, तथा सड़ना और गलना स्वभाव से सहित है ऐसे शरी र के स्वरूप का सदा चिन्तन करना चाहिए।[1]

योगरन्ध्रैरबुद्धात्मा कर्मवारिनिरन्तरम् ।
आत्मपोतः समादत्ते पर्यटन् भववारिधौ ॥105॥

अन्वयार्थः- **(भववारिधौ)** संसार रूपी समुद्र में **(पर्यटन्)** घूमता हुआ **(अबुद्धात्मा)** अज्ञानी जीव **(आत्मपोतः)** आत्मा रूपी जहाज **(निरन्तरम्)** निरन्तर प्रतिसमय **(योगरन्ध्रैः)** योग रूपी छिद्रों के द्वारा **(कर्मवारि)** कर्म रूपी जल को **(समादत्ते)** ग्रहण करता है।

भावार्थः- कर्मोदय से प्राप्त शरीर को ग्रहण करके अज्ञानवश प्राणी बाह्य इन्द्रिय विषयों में इष्टानिष्ट बुद्धि करके रागद्वेष कर मन, वचन और काय के द्वारा नवीन कर्म पुद्‌गल परमाणुओं को ग्रहण करता है जिससे नवीन शरीरादि की प्राप्ति की परम्परा निरन्तर चलती रहती है त्रियोग द्वारा कर्मो का ग्रहण करना आस्रव है इस प्रकार आस्रव अनुप्रेक्षा का चिन्तवन करना चाहिये।

सर्वार्थ सिद्धि में आस्रवानुप्रेक्षा का स्वरूप निम्न प्रकार से दर्शाया गया है-

आस्रवा इहामुत्रापाययुक्ता महानदीस्रोतोवेगतीक्ष्णा इन्द्रियकषायाव्रतादयः तत्रेन्द्रियाणि तावत्स्पर्शनादीनि वनगजवायसपन्नगपतङ्गहरिणादीन् व्यवसनार्णवमवगाहयन्ति तथा कषायादयोऽपीह वध बन्धापयशः तासु परिग्रमयन्तीत्येवमास्रवदोषानुचिन्तनमास्रवानुप्रेक्षा ।

अर्थः- आस्रव इस लोक और परलोक में दुःखदायी है महानदी के प्रवाह के वेग के समान तीक्ष्ण है तथा इन्द्रिय, कषाय और अव्रत रूप है। उनमें से स्पर्शनादिक इन्द्रियाँ वनगज कौआ, सर्प, पतंग, और हिरण आदि के दुःख रूप समुद्र में

1. बा.अ/44

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अवगाहन कराती है। कषाय आदिक भी इस लोक में वध, बन्ध,अपयश और क्लेशादिक दुःखों को उत्पन्न करते है तथा परलोक में नाना प्रकार के दुःखों से प्रज्वलित नाना गतियों में परिभ्रमण कराते है। इस प्रकार के दोषो का चिन्तवन करना आस्रवानुप्रेक्षा है।[1]

सद्दृष्टिसद्धनुर्धीरः संवरायसवर्मकः ।
साधुयोधः सदाभेद्यः यदि न स्यादसंयमः ॥106॥

अन्वयार्थः- **(यदि धीरः)** यदि धैर्यवान् **(साधुयोधः)** साधुरूपी योधा **(संवराय)** संवर के लिए **(सद्दृष्टि)** सम्यग्दर्शन रूपी **(सद्धनु)** श्रेष्ठ धनुष **(सवर्मकः)** और कवच से युक्त **(सदाभेद्यः)** सदा अभेद्य है जिससे **(असंयम न स्यात्)** असंयम नहीं होता है।

भावार्थः- योगों से निरन्तर आस्रव होता रहता है उस आस्रव का निरोध करने के लिए संवर के कारण गुप्ति, समिति, दशधर्म, अनुप्रेक्षा चिन्तवन, परीषह, जय और चारित्र के द्वारा सम्यग्दृष्टि अपनी सुरक्षा करता रहता है अर्थात् उपर्युक्त साधनों में उत्साहित होकर संलग्न रहता है इस प्रकार संवर के कारणों का चिन्तवन करना संवरानुप्रेक्षा है सर्वार्थसिद्धि में निर्दिष्ट संवरानुप्रेक्षा दृष्टव्य है।

यथा महार्णवे नावो विवरपिधानेऽसति क्रमात् स्रुतजलाभिप्लवे सति तदाश्रयाणां विनोशाऽवश्यंभावी, छिद्रपिधाने च निरुपद्रवमभिलषितः देशान्तर प्रापणं तथा कर्मागम द्वार संवरणे सति नास्ति श्रेयः प्रतिबन्ध इति संवरगुणानु चिन्तनं संवरानुप्रेक्षा।

अर्थः- जिस प्रकार महार्णव में नाव के छिद्र के नहीं ढँके रहने पर क्रम से झिरे हुए जल से व्याप्त होने पर उसके आश्रय से बैठे हुए मनुष्यों का विनाश अवश्यम्भावी है और छिद्र के ढँके रहने पर निरुपद्रव रूप से अभिलषित देशान्तर का प्राप्त होना अवश्यम्भावी है उसी प्रकार कर्मागम के द्वार के ढँके होने पर कल्याण का प्रतिबन्ध नहीं होता। इस प्रकार संवर गुणों का चिन्तवन करना संवरानुप्रेक्षा है।[2]

कषायकालिकाकर्म - मललेपाद्विशुध्यति ।
जीवो हेमवदत्यन्तं तप्यमानस्तपोऽग्निना ॥107॥

---

1. स.सि. 9/7 2. स.सि. 9/7

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अन्वयार्थः- **(अग्निना)** अग्नि के द्वारा **(तप्यमानः)** तपे हुए **(हेमवत्)** सोने के समान **(जीवः)** जीव **(तपोऽग्निना)** तप रूपी अग्नि से **(कषायकालिका कर्मं)** कषाय रूपी किट्टकालिमा के **(अललेपाद्)** लेप से रहित होकर **(विशुध्यति)** शुद्ध हो जाता है।

भावार्थः- जिस प्रकार दुग्ध और जल का एकक्षेत्रावगाह रूप सम्बन्ध होता है उसी प्रकार जीव और कर्मो का सम्बन्ध है। दुग्ध को तपाने पर वह शुद्ध अवस्था को प्राप्त कर लेता है ठीक उसी प्रकार अनशनादि बाह्य तपों तथा प्रायश्चित आदि अन्तरंग तपों के द्वारा जीव कर्मो की निर्जरा कर अपने सहज शुद्ध शुद्धात्मा को प्राप्त कर लेता है इस प्रकार कर्मों की निर्जरा के कारणभूत बारह प्रकार के तपों का चिन्तवन करना निर्जरानुप्रेक्षा है।

उत्पद्येत विपद्येत लोकोदुम्बरसदृशः ।
क्रिमिराशिरिवासाता-संतप्ता जन्तुसन्ततिः ॥108॥

अन्वयार्थः- **(उदुम्बरसदृशः इव)** उदुम्बर फल के समान ही **(असाता संतप्ता)** असाता के उदय से संत्रस्त **(जन्तुसन्ततिः)** जीवों का समूह **(लोके)** लोक में **(क्रिमिराशि)** क्रिमि आदि में **(उत्पद्येत)** जन्म लेता है **(विपद्येत)** और मरण को प्राप्त होता है अर्थात् उदुम्बर फल में जिस प्रकार जीव उत्पन्न होते है और नष्ट होते है उसी प्रकार असाता के उदय से जीव लोक में जन्म लेते है और मरण को प्राप्त होते है।

भावार्थः- लोकानुप्रेक्षा में इसप्रकार चिन्तवन करना चाहिए कि असातावेदनीय कर्म के उदय से उदुम्बर फल के सदृश तीनों लोक में जीव उत्पन्न होते है आयुकर्म के क्षय से मरण को प्राप्त हो जाते है जन्म मरण का यह असहनीय दुःख जीव निरन्तर परिभ्रमण करते हुये भोग रहे हैं।

"बारस अणुवेक्खा" में आचार्य कुन्द कुन्द महाराज ने कहा है कि-

असुहेण णिरयतिरियं सुहउवजोगेण दिविजणरसोक्खं ।
सुद्धेण लहइसिद्धिं एवं लोयं विचिंतिज्जो ॥

अर्थः- अशुभोपयोग से नरक और तिर्यंचगति प्राप्त होती है शुभोपयोग से देव और मनुष्यगति का सुख मिलता है और शुद्धोपयोग से जीव मुक्ति को प्राप्त

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

होता है इस प्रकार लोक का विचार करना चाहिए।[1]

मानुष्यं कर्मभूर्योग्यः सद्देशः कल्पवत्कुलम् ।
सत्यपीत्यादि दुष्प्रापं बोधिरत्नं सुदुर्लभम्।। 109।।

अन्वयार्थः- **(मनुष्यं)** मनुष्य को **(कर्मभूमिः)** कर्मभूमि **(योग्यः सद्देशः)** योग्य उत्तम देश **(कल्पवत्कुलम्)** कल्पवृक्ष के समान कुल **(इत्यादि)** इत्यादि **(सति)** मिलने पर **(अपि)** भी **(दुष्प्रायं)** दुष्प्राप्य **(बोधिरत्नं)** बोधि रत्न की प्राप्ति होना **(सुदुर्लभम्)** बहुत दुर्लभ है।

भावार्थः- अत्यधिक दुलर्भता से मनुष्य पर्याय की प्राप्ति होती है और यदि किसी भव्य प्राणी को मनुष्य पर्याय की उपलब्धि के साथ ही साथ उत्तम कुल, योग्य देश और उत्तम सामग्री की भी प्राप्ति हो जावे तो सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यग्चारित्र रूप बोधि की प्राप्ति अत्यधिक दुष्कर है। इस प्रकार बोधिदुर्लभ भावना भानी चाहिये।

कथंचित् काकतालीयन्यायेन (एते मनुष्यगति आर्यत्वतत्त्वश्रवणादि सर्वे) लब्धेष्वति तल्लब्धिरूपबोधेः फलभूतस्वशुद्धात्म संवित्त्यात्मकनिर्मल धर्मध्यान शुक्लध्यानरूपः परमसमाधिः दुर्लभः। तस्मात् स एव निरन्तरं भावनीयः। सम्यग्दर्शनज्ञान चारित्रणामप्राप्तप्रापणं बोधिस्तेषामेव निर्विध्नेन भवान्तर प्रापणं समाधिरिति।

अर्थः- यदि काकतालीय न्याय से इन मनुष्यगति आर्यत्व तत्त्वश्रवणादि सबकी लब्धि हो जाये तो भी इनकी प्राप्ति रूप जो ज्ञान हैं उसमें फलभूत जो शुद्धात्मा के ज्ञान स्वरूप निर्मल धर्मध्यान तथा शुक्लध्यान रूप परमसमाधि है वह दुर्लभ है। इसलिए इसकी ही निरन्तर भावना करनी चाहिए। पहले नही प्राप्त हुए सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यग्चारित्र का प्राप्त होना सो बोधि कहलाता है और उन्ही सम्यग्दर्शनादिकों को निर्विघ्न अन्य भवों में साथ ले जाना सो समाधि है।[2]

इहैवोपशमात्सौख्यं नृदेवेषु परत्र च ।
आनन्दमक्षयं मोक्षे धर्मरत्नादवाप्यते ।।110।।

अन्वयार्थः- **(धर्मरत्नात्)** धर्म रूपी रत्न से **(उपशमात्)** कर्म का उपशम हो जाता है जिससे **(इहैव)** इस लोक में **(नृदेवेषु)** मनुष्य और

---

1. बा.अ. /42   2. बृ.उ.स. /35

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

देवों में अर्थात् चक्रवर्ती, इन्द्र आदिक पर्यायों में **(सौख्यं)** सुख को प्राप्त करके **(च)** और **(परत्र)** परलोक **(मोक्षे)** मोक्ष में **(अक्षयं)** अक्षय **(आनन्दम्)** आनंद को **(अवाप्यते)** प्राप्त करता है।

भावार्थः- धर्मानुप्रेक्षा का स्वरूप निर्दिष्ट करते हुये आचार्य श्री जी कहते है कि यह संसारी प्राणी धर्म धारण करने से क्रोधादि कषायों पर विजय प्राप्त कर समता में स्थिर होने लगता है जिसके फलस्वरूप इस लोक और परलोक में चक्रवर्ती इन्द्रादि की विभूतियाँ को प्राप्त करके परम्परा से मुक्ति का लाभ करता है।

अयं जिनोपदिष्टो धर्मोऽहिंसालक्षणः सत्याधिष्ठितो विनयमूलः। क्षमावलो ब्रह्मचर्यगुप्त उपशमप्रधानी नियतिलक्षणो निष्परिग्रहतालम्बनः। अस्यालाभादनादिसंसारे जीवाः परिभ्रमन्ति दुष्कर्मविपाकजं दुःखमनुभवन्तः। अस्य पुनः प्रतिलम्भे विविधाम्दुयप्राप्ति पूर्विका निः श्रेयसोपलब्धिर्नियतेति चिन्तनं धर्मस्वाख्यातत्वानुप्रेक्षा।

अर्थः- जिनेन्द्रदेव ने यह जो अहिंसालक्षण धर्म कहा है सत्य उसका आधार है विनय उसकी जड़ है क्षमा उसका बल है ब्रह्मचर्य से रक्षित है उपशम की उसमें प्रधानता है नियति उसका लक्षण है परिग्रह रहितपना उसका आलम्बन है इसकी प्राप्ति नहीं होने से दुष्कर्म विपाक से जायमान दुःख को अनुभव करते हुए ये जीव अनादि संसार में परिभ्रमण करते है।परन्तु इसका लाभ होने पर नाना प्रकार के अभ्युदयों की प्राप्ति पूर्वक मोक्ष की प्राप्ति होना निश्चित है ऐसा चिन्तन धर्मस्वाख्यातत्त्वानुप्रेक्षा है।[1]

एताभिर्भावनाभिः स्वयं भावयन् भव्यपुङ्गवः ।
निर्विण्णात्मनि संविग्नो ध्याने दार्ढ्यं समश्नुते ॥111॥

अन्वयार्थः- **(संविग्नः)** संसार दुःखो से भयभीत **(भव्यपुङ्गवः)** श्रेष्ठ भव्य जीव **(निर्विण्णात्मनि)** साम्य भाव की उपलब्धि से आत्मा में **(एताभिर्भावनाभिः)** इन भावनाओं के द्वारा **(स्वं)** अपने को **(भावयन्)** ध्याता हुआ **(ध्याने)** ध्यान में **(दार्द्यं)** दृढता को **(समश्नुते)** प्राप्त करता है।

भावार्थः- इन भावनाओं के भाने से वैराग्यवान भव्य जीव ध्यान की

---

1. स.सि. 9/7

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

स्थिरता तथा अपने निज शुद्ध स्वरूप में अवस्थान करने में सफल हो जाता है। इन भावनाओं के बार-बार चिन्तन करने से साधक को क्या उपलब्धि होती है ? इस सन्दर्भ में ज्ञानार्णवकार कहते हैं कि-

विध्याति कषायाग्निर्विगलति रागो विलीयते ध्वान्तम्।
उन्मिषति बोधदीपो हृदि पुंसां भावनाभ्यासात् ॥

अर्थ :-इन द्वादश भावनाओं के निरन्तर अभ्यास करने से पुरूष के हृदय के कषाय रूप अग्नि बुझ जाती है तथा परद्रव्यों के प्रति रागभाव गल जाता है और अज्ञानरूप अंधकार का विलय होकर ज्ञानरूप दीपक का प्रकाश होता है।[1]

निष्प्रकम्पशिखो दीपस्तमो यद्वन्निरस्यति ।
पापान्धतमसं हन्ति तद्वद्ध्यानं सुनिश्चलम् ॥112॥

अन्वयार्थः- **(यद्वत्)** जिस प्रकार **(निष्प्रकम्प)** निष्कम्प **(दीपः शिखः)** दीप शिखा **(तमः)** अंधकार को **(निरस्यति)** नष्ट करती है **(तद्वत्)** उसी प्रकार **(सुनिश्चलं)** निश्चल **(ध्यानं)** ध्यान **(पापान्धतमसं)** पापाधंकार को **(हन्ति)** नष्ट करता है।

भावार्थ :- वायु के उद्वेग रहित स्थान में जिस प्रकार दीपक वर्ति स्थिर रहकर, अधंकार को नाश करती है उसीप्रकार ध्यान के फलस्वरूप योगी चित्त की एकाग्रता से पापास्रव का निरोध कर तथा पापों के संस्कारों का सर्वथा क्षय कर शुभ अथवा शुद्धोपयोग में स्थिरता को प्राप्त कर लेता है। धवलाकार ने स्थिर ध्यान के फलस्वरूप क्या होता है ? इस सन्दर्भ में कहा है कि-

णवकम्माणादाणं पोराणवि णिज्जरा सुहादाणं ।
चारित्त भावणाए ज्झाणमयत्तेण य समेइ ॥26॥
जह वा घणसंघाया खणेण पवणाहया विलिज्जंति ।
ज्झाणप्पवणोवहया तह कम्मघणा विलिज्जंति ।57।

अर्थ :- चारित्र भावना के बल से जो ध्यान में लीन है उसके नूतन कर्मो का ग्रहण नहीं होता, पुराने कर्मों की निर्जरा होती है और शुभ कर्मो का आस्रव होता है। जैसे मेघपटल पवन से ताड़ित होकर क्षण मात्र में विलीन हो जाते है वैसे ही ध्यानरूपी पवन से उपहत होकर कर्म-मेघ भी विलीन हो जाते है।[2]

---

1. ज्ञा 2/2   2. ध 13 /68

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

क्षुत्तृष्णोष्मादिभि दुःखैर्विषयैर्वा प्रकम्पते ।
निसर्गतरलं चित्तं वायुना शीर्णपर्णवत् ॥113॥

अन्वयार्थ :- **(वायुना)** वायु से जिस प्रकार **(शीर्णपर्णवत्)** पुराना पत्ता झड़ जाता है उसी प्रकार **(क्षुत्तृष्णोष्मादिभिः दुःखैः)** क्षुधा तृषा उष्णादि दुखों से **(विषयैर्वा)** और पञ्चेन्द्रिय के विषयों से **(निसर्गतरलं)** स्वभाव से चंचल **(चित्तं)** मन **(प्रकम्पते)** विशेष चंचल हो जाता है।

भावार्थ :- यहाँ इस श्लोक में महाराज श्री यह भाव प्रदर्शित करना चाहते है कि हीन संहनन युक्त योगी यदि क्षुधादि परीषहों के द्वारा शक्ति से अधिक मनोरोध आदि करना चाहता है तो स्वभावतः चंचल मन क्षुधादि दुखों की वेदना से अथवा इन्द्रिय विषयों के द्वारा स्थिरता के स्थान पर अस्थिरता को धारण कर लेता है अतः यथाशक्ति तपानुष्ठान करना चाहिये। यथाशक्ति तपानुष्ठान करने पर यदि परीषह उपसर्ग आदि उपस्थित होते है तो धैर्यवान् होकर साधक को समता में ही वृद्धि करना चाहिए।

धर्तुं मनो न शक्नोति मुनिरल्पबलो यदा ।
निर्वीर्यं बन्धसम्बन्धं केवलं कुरुते तदा ॥114॥

अन्वयार्थ :- **(यदा)** जब **(अल्पबलः मुनिः)** अल्पबल मुनि **(निर्वीर्यं)** शक्ति रहित होकर **(मनोधर्तुं)** मन को एकाग्र करने में **(न शक्नोति)** समर्थ नहीं होता है **(तदा)** तो संक्लेश के कारण **(केवलं)** केवल **(बन्ध सम्बन्धं)** कर्म बंध को ही **(कुरुते)** करता है।

भावार्थः- इस श्लोक मे आचार्य महाराज यह स्पष्ट करना चाहते है कि हीन संहनन वाला मुनि उपसर्ग आदि की वेदना को सहन करने में समर्थ नहीं होता है यदि शक्ति का उल्लघंन कर मनोरोध के साधनों में संलग्न रहेगा तो विशुद्धि प्राप्त करने की अपेक्षा संक्लेश को ही प्राप्त होगा जिसके फल स्वरूप कर्म क्षय के स्थान पर कर्म बंध ही करेगा। प्रवचनसार में भी यथा शक्ति तप करने का निर्देश दिया है-

आहारे व विहारे देसं कालं समं खमं उवधिं।
जणित्ता ते समणो वट्टदि जदि अप्पलेवी सो ॥

अर्थ :- मुनि देश, काल, श्रम, सहनशक्ति और शरीर रूप परिग्रह को अच्छी

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

तरह जानकर आहार तथा विहार में प्रवृत्ति करता है। यद्यपि ऐसा करने से उसके अल्प कर्मबन्ध होता है तो भी वह आहारादि में प्रवृति करता है।

आहारादि के ग्रहण में कर्मबन्ध होता है इस भय से जो अत्यन्त कठोर आचरण के द्वारा शरीर को नष्ट कर देते है वे देवपर्याय में पहुंचकर असंयमी हो जाते है और संयम के अभाव में उनके अधिक कर्मबन्ध होने लगता है। इस प्रकार अपवाद मार्ग का विरोध कर केवल उत्सर्ग मार्ग के अपनाने से चारित्र गुण का घात होता है। इसी प्रकार कोई शिथिलाचारी मुनि आहार-विहार में प्रवृत्ति करते हुए शुद्धात्मभावना की उपेक्षा कर देते है तो उनके ऐसा करने से अधिक कर्म बन्ध होने लगता है इस प्रकार उत्सर्ग मार्ग का विरोध कर केवल अपवादमार्ग के अपनाने से चारित्र गुण का घात होता है। अतः उत्सर्ग मार्ग के सापेक्ष रूप अपवाद मार्ग का अनुकरण करना चाहिए ।[1]

वज्रकायं परिप्राप्य योगमारभते यदा ।
नियन्तुं शक्नुयाद्योगी तदा चित्तं सुनिश्चलम् ।।115।।

अन्वयार्थ :- **(वज्रकायं)** वज्रवृषभ नाराच आदि उत्तम संहनन को **(परिप्राप्य)** प्राप्त करके **(योगी)** ध्यानी मुनि **(यदा)** जब **(योगमारभते)** योग प्रारंभ करता है **(तदा)** तब **(सुनिश्चलम्)** निश्चल **(चित्तं)** मन को **(नियन्तुं)** सम्यक् प्रकार से रोकने में **(शक्नुयात्)** समर्थ होता है।

भावार्थ :- योगी उत्तम संहनन अर्थात् वज्रऋषभ नाराच संहनन को प्राप्त कर यदि ध्यान करना प्रारम्भ करता है तब योगी मन को वश में करने में समर्थ होता है अर्थात् ध्यान की एकाग्रता प्राप्त कर सुख का भाजन बनता है प्रथम सहंनन की महत्वता बतलाते हुये ज्ञानार्णवकार कहते है कि-

न स्वामित्वमतः शुक्ले विद्यतेऽत्यल्पचेतसाम् ।
आद्यसंहननस्यैव तत्प्रणीतं पुरातनैः ।।
छिन्ने भिन्ने हते दग्धे देहे स्वमिव दुरगम् ।
प्रपश्यन् वर्षवातादिदुःखैरपि न कम्पते ।।

अर्थ :- पहले संहनन वाले के ही शुक्ल ध्यान कहा है क्योंकि इस संहनन वाले का ही चित्त ऐसा होता है कि शरीर को छेदने भेदने मारने और जलाने पर भी अपने आत्मा को अत्यन्त भिन्न देखता हुआ चलायमान नहीं होता न वर्षाकाल

---

1. प्र.सा.3/31

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

आदि के दुःखों से कम्पायमान होता है।[1]

छिन्ने भिन्ने हते दग्धे देहे स्वमिव दुरगम्।
प्रपश्यन् वर्षवातादि दुःखैरपि न कम्प्यते ।।116।।

अन्वयार्थः- उपयुर्क्त योगी **(देहे)** देह के **(छिन्ने भिन्ने)** छिन्न-भिन्न होने अथवा **(हते)** नष्ट होने पर **(दग्धे)** अथवा जल जाने पर **(स्वं)** अपने को **(दूरगम्)** दूर में स्थित व्यक्ति के समान **(प्रपश्यन्)** देखता हुआ **(वर्षवातादि)** वर्षा, तूफान आदि **(दुःखैः)** दुखों के द्वारा **(अपि)** भी **(न कम्प्यते)** कंपायमान नहीं होता है।

भावार्थ :- वज्रऋषभ नाराचसंहनन धारी योगी भेदज्ञान की उत्कृष्ट भावना के स्वरूप शरीर के जल जाने पर अथवा नष्ट हो जाने प र भी अपने स्वरूप के संवेदन से निज को भिन्न अनुभव करता हुआ चारों प्रकार के उपसर्गो के आने पर भी धैर्य से चलायमान नहीं होता है अर्थात् समता से च्युत नहीं होता है। और शांतभाव से निज में स्थिर रहने का प्रयास करता है तत्वानुशासन में निष्पन्न योगी की अवस्था का वर्णन निम्न प्रकार किया है।

तदा च परमैकाग्रयाद्बहिरर्थेषु सत्स्वपि ।
अन्यत्र किंचनाऽऽभाति स्वमेवात्मनि पश्यतः ।।

अर्थः- उस समाधिकाल में स्वात्मा मे देखने वाला योगी की परम एकाग्रता के कारण बाह्य पदार्थो के विद्यमान होते हुए भी उसे आत्मा के अतिरिक्त और कुछ भी प्रतिभासित नहीं होता।[2]

न पश्यति यदा किंचिन्न शृणोति न जिघ्रति
स्पष्टं किंचिन्न जानाति साक्षान्निर्वृत्तलेपवत् ।।117।।

अन्वयार्थः- ध्यान ने स्थित योगी **(न पश्यति)** न देखता है **(न किंचित् शृणोति)** न कुछ सुनता है। **(न जिघ्रति)** न कुछ सूंघता है **(स्पष्टं किंचिन्न जानाति)** बाह्य पदार्थों को ना ही जानता है अतः **(साक्षान्निर्वृत्तलेपवत्)** साक्षात् लेप रहित मूर्ति के समान प्रतीत होता है।

भावार्थः- ध्यानस्थ योगी जब ध्यान में तन्मय अवस्था को प्राप्त कर

---

1. ज्ञा 41/6-7 2. त.शा. /172

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

लेता है तब वह योगी रागादि से रहित निर्दोष प्रतिमा सदृश शोभित होता है। वह इस लोक में विराजमान होता हुआ भी इस लोक के पदार्थों के प्रति रागादि से रहित होता है। ध्येय निष्ठता के कारण वह न कुछ सुनता है न देखता है और न ही कुछ सूंघता है और न ही बाह्य वस्तुओं को स्पष्ट जानता है तत्वानुशासन में भी कहा है -

यथा नर्वात देशस्थः प्रदीपो न प्रकम्पते ।
तथा स्वरूपनिष्ठोऽयं योगी नैकाग्रयमुज्झति ॥

अर्थः- जिस प्रकार पवन रहित स्थान में स्थित दीपक नही काँपता उसी प्रकार अपने स्वरूप में स्थित योगी एकाग्रता को नहीं छोड़ता।[1]

सम्यग्दृष्ट्याद्यसंख्येय-गुणनिर्जरणोद्गमात् ।
लब्धात्मलाभसद्ध्यान-बलादेव विनिर्दहन् ॥118॥
असंख्येयगुणं कर्म शमकोऽप्यानुषङ्गिकम् ।
ज्ञानाद्यैश्वर्यमाप्नोति फलं चोपशमात्सुखम् ॥119॥

अन्वयार्थः- **(सम्यग्दृष्ट्यादि)** सम्यग्दृष्टि आदि **(असंख्येय गुणनिर्जरणोद्गमात्)** असंख्यात गुण श्रेणी निर्जरा के प्रगट हो जाने से **(लब्ध प्राप्त)** किया है **(आत्मलाभ)** आत्म स्वभाव को जिसने **(शासकः)** ऐसा योगी **(ध्यानं)** ध्यान के **(बलात्)** बल से **(एव)** ही **(असंख्येयगुणं)** असंख्यात गुणी कर्मों की **(विनिर्दहन्)** निर्जरा करता हुआ **(उपशमात्)** कषायों के उपशमन से **(सुखम्)** सुख और **(अपि)** भी **(आनुषङ्गिकम्)** साथ में **(ज्ञानाद्यैश्वर्यम्)** ज्ञानादि वैभव को **(आप्नोति)** प्राप्त करता है।

भावार्थः- ध्यान के फल का निर्देश करते हुय आचार्य महाराज कहते है कि असंख्यात गुणश्रेणी निर्जरा के फलस्वरूप प्रकट हुये सम्यग्दर्शनादि तथाप्राप्त किया है आत्म स्वभाव को जिस योगी ने वह कषायों के उपशमन से अद्वितीय सुख का भोगता हुआ ज्ञानादि ऐश्वर्य को प्राप्त करता है।

परलोके पुनः स्वर्ग-सागरे पतितः पुमान् ।
प्रोद्यत्सम्पूर्णेन्दु-वर्धमानोरुसम्पदि ॥120॥

---

1. त.शा./171

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अणिमादिगुणानर्घ्य - माणिक्यगुणसंकुले ।
कालं गतं न जानाति भुञ्जानस्तत्सुखामृतम् ॥121॥

अन्वयार्थः- **(पुनः)** पुन वह **(पुमान्)** ध्यानी आत्मा **(परलोके)** परलोक में जहाँ पर **(प्रोद्यत्सम्पूर्णेन्दु)** उदित होते हुए पूर्ण चन्द्रमा के समान **(वर्धमानो रुसम्पदि)** बढ़ती हुई सम्पत्ति है तथा **(अणिमादिगुणानर्घ्य)** अणिमामहिमा आदि अमूल्य गुण **(माणिक्य-गुणसंकुले)** रत्नो से समहू से व्याप्त है ऐसे **(स्वर्ग सागरे)** स्वर्ग सागर में **(सुखा-मृतम्)** सुख रूपी अमृत को **(भुञ्जानः)** भोगता हुआ **(गतं कालं)** बीते हुए काल को न **(जानाति)** नहीं जानता है।

भावार्थः- ध्यानी इस लोक में ध्यान के बल से प्रशम सुख तथा ज्ञानादि के अद्भुत वैभव को भोगता हुआ परलोक में स्वर्गीय सुख अर्थात् अणिमा आदि लब्धियों से युक्त महर्द्धिक देव पदों को प्राप्त करता हुआ सुख से कालयापन करता है तथा वहाँ बीता हुआ काल उसे प्रतिभासित ही नहीं होता है।

ततश्च्युत्वाऽवनौ भुक्त्वा तीर्थनाथादिसम्पदः ।
शुक्लध्यानामृतं पीत्वा प्रयात्यजरामरपदम् ॥122॥

अन्वयार्थः- **(ततः)** वहाँ से अर्थात् स्वर्ग से **(च्युत्वा)** च्युत होकर **(अवनौ)** पृथ्वी पर **(तीर्थनाथादि)** तीर्थंकर आदि **(सम्पदः भुक्त्वा)** सम्पत्ति को भोगकर **(शुक्ल ध्यानामृतं पीत्वा)** शुक्ल ध्यान रूपी अमृत को पीकर **(अजरामरपदम्)** अजर अमर पद को **(प्रयाति)** प्राप्त करता है।

भावार्थः- स्वर्ग से च्युत ध्यानी योगी जिसने पूर्व में ध्यान किया वही पृथ्वी पर चक्रवर्ती, कामदेव तीर्थंकरादि पदों को प्राप्त कर पश्चात् जिन दीक्षा को धारण कर शुक्लध्यान रूप अमृत को पीकर कर्मों के सघन वन को निर्दग्ध कर मोक्ष सुख को प्राप्त करता है। तत्वानुशासन में कहा भी है कि-

ध्यानाऽभ्यास प्रकर्षेण त्रुटयन्मोहस्य योगिनः ।
चरमाऽङ्गस्य मुक्तिः स्यात्तदैवाऽन्यस्य च क्रमात् ॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अर्थः- ध्यान के अभ्यास की प्रकर्षता से मोह को नाश करने वाले चरम शरीरी योगी के तो उसी भव में मुक्ति होती है और जो चरम शरीरी नहीं है उसके क्रमशः मुक्ति होती है।[1]

धर्मध्यानमतिक्रान्तो यदा योगी भवेत्तदा।
शुक्लध्यानं पुनर्ध्यातुमारभेत् समाहितः ॥123॥

अन्वयार्थः- **(यदा)** जब योगी **(धर्मध्यानमति क्रान्तः)** धर्मध्यान के अन्त को प्राप्त कर लेता है **(भवेत्)** हो **(तदा)** तब **(पुनः)** फिर **(समाहितः)** स्थिर होकर **(शुक्ल ध्यानं)** शुक्ल ध्यान को **(ध्यातुं)** ध्याना **(आरभेत)** प्रारंभ करें।

भावार्थः- आचार्य महाराज यहाँ इस श्लोक से यह भाव प्रदर्शित करना चाहते है कि योगी शुक्ल ध्यान का प्रस्थापक कब होता है? जब योगी धर्मध्यान के फलस्वरूप पापास्रव का सर्वथा निरोध करके पुण्यास्रव का अधिकारी हो जाता है तब वह शुक्ल ध्यान को प्राप्त करता है अर्थात् कषाय मल के सर्वथा अभाव होने पर ही योगी को शुक्ल ध्यान की प्राीप्त होती है।

सवितर्कं सवीचारं स पृथक्त्वमुदाहृतम्।
शुक्लमाद्यं द्वितीयं च विपरीतवितर्कयुत् ॥124॥
सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति तृतीयं यदपाति तत्।
समुच्छिन्नक्रियं तुर्यं ध्वस्तबन्धनिबन्धनम् ॥125॥

अन्वयार्थः- **(सः)** वह **(आद्यंशुक्लं)** प्रथम शुक्लध्यान **(पृथक्त्वं)** पृथक्त्व **(सवितर्क)** वितर्क से सहित **(सविचार)** वीचार से सहित **(उदाहृतम्)** कहा गया है **(च)** और **(द्वितीयं)** दूसरा **(विपरीत)** वीचार से रहित **(वितर्कयुत्)** तथा वितर्क सहित है। **(सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति तृतीयं)** सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति तीसरा शुक्लध्यान है **(यदपाति)** जो वितर्क रहित है। **(तत्)** वह **(समुच्छिन्नक्रियं)** समुच्छिन्नक्रिया **(तुर्यं)** चौथा शुक्लध्यान है। **(ध्वस्तबन्ध निबन्धनम्)** जो कि कर्म समूह का नाशक है।

भावार्थः- उपयुर्क्त दो श्लोकों में शुक्लध्यान के भेदों का सामान्य

1. त.शा./224

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

संक्षिप्त स्वरूप निर्दिष्ट करते हुये चार भेदों का उल्लेख किया गया है प्रथम शुक्ल ध्यान पृथक्त्व वितर्क वीचार द्वितीय एकत्व वितर्क अवीचार तृतीय सूक्ष्मक्रिया प्रतिपाति और चौथा शुक्लध्यान समुच्छिन्न क्रिया प्रतिपाति शुक्लध्यान जानना चाहिए। इन सभी का स्वरूप आगे के श्लोकों में स्पष्ट उल्लेख किया जायेगा।

त्र्येकयोगवपुर्योगायोगिनां तदनुक्रमात् ।
परे केवलिनः शुक्ले पूर्वे पूर्वविदः स्मृते ॥126॥

अन्वयार्थः- **(त्र्येकयोगवपुर्योगायोगिनां)** तीन योग एक योग काय योग और अयोगी के **(तदनुक्रमात्)** उपयुक्त चारों शुक्ल ध्यान क्रमशः होते हैं। **(परे)** अन्त के दो ध्यान **(केवलिनः)** केवलियों के एवं **(पूर्वे)** पूर्व के दो **(शुक्ले)** शुक्ल ध्यान **(पूर्वविदः)** पूर्वविद के **(स्मृते)** जानना चाहिए।

भावार्थः- यहाँ पर शुक्ल ध्यान के स्वामियों के विषय में कथन करते हुये यह स्पष्ट किया है-कि पृथक्त्व वितर्क और एकत्व वितर्क ध्यान पूर्वगत श्रुत के पारगामी श्रुतकेवली ही इनके अधिकारी होते है [1] तथा अन्तिम सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति और व्युपरत क्रियानिवृत्ति ये दो शुक्लध्यान सर्वथा रागादि दोषों से रहित केवलज्ञानियों के होते है।[2]

पृथकत्व वितर्क शुक्ल ध्यान तीन योग वाले के होता है। तीन योगों में से एक योग वाले के एकत्व वितर्क शुक्लध्यान होता है। काययोग वाले के सूक्ष्मक्रिया प्रतिपाति शुक्लध्यान होता है और व्युपरत क्रिया निवृत्ति नामक शुक्लध्यान अयोग केवली के होता है।[3]

एकाश्रये सवीचारे सवितर्के द्वितीयकम् ।
अवीचारं च वीचारो योगवागर्थसंक्रमः ॥127॥

अन्वयार्थः- पहला शुक्ल ध्यान **(एकाश्रये)** एकाश्रय वाला है

---

1. शुक्ले चाद्ये पूर्वविदः। त. सू. 9/37
2. परे केविलनः । त. सू. 9/38
3. त्र्येकयोगकाययोगायोगानाम्। त.सू. 9/40

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

(सवीचारे सवितर्के) वीचार वितर्क सहित है **(द्वितीयकम्)** दूसरा शुक्ल ध्यान **(अवीचार)** अवीचार रूप है **(योगवागर्थसंक्रम :)** योग वचन और अर्थ का संक्रमण **(वीचारः)** वीचार हैं।

भावार्थः- पृथक्त्व वितर्क नामक प्रथम शुक्ल ध्यान वितर्क और वीचार दोनों से सहित है किन्तु द्वितीय शुक्ल ध्यान में अर्थ, योग, वचन आदि का संक्रमण नहीं होता है इसलिये वह अवीचार संज्ञा से युक्त है।

वितर्कः श्रुतमित्याहुर्यस्मादर्थान् पृथक् पृथक् ।
ध्यायत्यागममालम्ब्य पृथक्त्वं तेन तद्विदुः ॥128॥

अन्वयार्थ :- **(इति)** इस प्रकार **(वितर्कः)** वितर्क **(श्रुतम्)** श्रुतज्ञान **(आहुः)** कहलाता है। **(यस्मात्)** क्योंकि **(आगमालम्ब्य)** वह आगम अर्थात् श्रुत के आलम्बन से **(अर्थान्)** पदार्थों को **(पृथक्-पृथक्)** अलग-अलग **(ध्यायति)** ध्याता है **(तेन)** इस कारण **(तद्)** उसे **(पृथक्त्वं)** पृथक्त्व वितर्क **(विदुः)** जानना चाहिए।

भावार्थः- वितर्क श्रुतज्ञान कहलाता है। नानात्व अर्थात् अनेकपने को पृथक्त्व कहते हैं जिस ध्यान में पृथक्-पृथक् रूप श्रुतज्ञान बदलता रहता है उसे पृथक्त्व वितर्क ध्यान जानना चाहिए।

अर्थादर्थं वचः शब्दाद्योगं योगात् समाश्रयन् ।
पर्यायादपि पर्यायं द्रव्याणो श्चिन्तयेदणुम् ॥129॥

अन्वयार्थः- **(अर्थादर्थं)** अर्थ से अर्थान्तर **(शब्दात्वचः)** शब्द से शब्दान्तर **(योगात् योगं)** योग से योगान्तर को **(पर्यायदपि पर्यायं)** पर्याय से पर्यायान्तर **(द्रव्याणोः)** एक द्रव्य अणु से **(अणुं)** इससे द्रव्य परमाणु का **(चिन्तयेत्)** चिन्तवन करे।

भावार्थ - द्रव्य परमाणु व भाव परमाणु का स्वरूप पंचास्तिकाय टीका में निम्न प्रकार से निर्दिष्ट किया गया है -

परमाणु से द्रव्य की सूक्ष्मता और भाव परमाणु से भाव की सूक्ष्मता कही गयी है। उसमें पुद्गल परमाणु का कथन नहीं है। द्रव्य शब्द से आत्म द्रव्य ग्रहण करना चाहिए। उसका परमाणु अर्थात् रागादि उपाधि

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

से रहित उसकी सूक्ष्मावस्था, क्योंकि वह निर्विकल्प समाधि का विषय है। इस प्रकार द्रव्य परमाणु कहा गया। भाव शब्द से उस ही आत्म द्रव्य का स्वसंवेदन परिणाम ग्रहण करना चाहिए। उसके भाव का परमाणु अर्थात् रागादि विकल्प रहित सूक्ष्मावस्था, क्योंकि वह इन्द्रिय और मन के विकल्पों का विषय नहीं है।[1]

राजवार्तिक में भी कहा गया है कि -

भाव परमाणु में क्षेत्र की अपेक्षा तो एक प्रदेश है व्यवहार कालका एक समय है और भाव अपेक्षा एक अविभागी प्रतिच्छेद है। तहाँ पुद्गल के गुण अपेक्षा तो स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण के परिणमन का अंश लीजिए। जीव के गुण अपेक्षा ज्ञान का तथा कषाय का अंश लीजिए ऐसे द्रव्य परमाणु (पुद्गल परमाणु) भाव परमाणु (किसी भी द्रव्य के गुण का एक अविभागी प्रतिच्छेद) यथा सम्भव समझना चाहिए।[2]

एवं शान्तकषायात्मा कर्मकक्षाशुशुक्षणिः ।
एकत्वध्यानयोग्यं स्यात् पृथक्त्वात्ते जिताशयः ॥130॥

अन्वयार्थः- **(एवं)** इस प्रकार **(शान्तकषायात्मा)** कषाय जिसकी शांत हो गई है **(कर्मकक्षाशुशुक्षणिः)** कर्म समूह को नष्ट करने के लिए जो अग्नि के समान है, **(जिताशयः)** मन जिसने जीत लिया है **(पृथकत्वात्)** पृथक्त्व ध्यान के अनन्तर **(ते)** वे योगी **(एकत्व ध्यानयोग्यं)** एकत्व-वितर्क ध्यान के योग्य **(स्यात्)** होते हैं (हो)।

भावार्थः- जो पृथक्त्व शुक्लध्यान कर चुका है तदन्तर वह द्वितीय शुक्ल ध्यान का स्वामी होता है।

एकं द्रव्यमथाणुं वा पर्यायं चिन्तयेद्यतिः ।
योगेनैकेन यत्क्षीणस्तदेकत्वमुदीरितम् ॥131॥

अन्वयार्थः- **(यत्क्षीणःयतिः)** क्षीण मोही जो यागी **(एकेन योगेन)** एक योग से **(एकं द्रव्यमथाणुं वा पर्यायं)** एक द्रव्य अथवा अणु या पर्याय का **(चिन्तयेत्)** विचार करता है **(तदेकत्वमुदीरितम्)** उसे एकत्व ध्यान कहते है।

---

1. प.का./ता.वृ./152./219

2. (रा.वा. 9/27)

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

भावार्थ - जब क्षीणमोही मुनि एक योग से एक द्रव्य अथवा अणु या पर्याय का चिन्तवन करता है - तब उसका वह ध्यान एकत्व संज्ञा को प्राप्त करता है।

शुक्लध्यानानलेनैव दग्ध्वा घातीन्धनोत्करम् ।
तदार्हन्त्यमनुप्राप्तो भाति भव्याब्जभास्करः ॥132॥

अन्वयार्थः- **(शुक्लध्यानानलेनैव)** शुक्ल ध्यान रूपी अग्नि के द्वारा ही **(घातीन्धनोत्करम्)** घातिया कर्म रूपी ईधन के समूह को **(दग्ध्वा)** जलाकर **(तदार्हन्त्यमनु प्राप्तो)** अर्हंत अवस्था को प्राप्त जिन **(भव्याब्जभास्करः)** भव्य कमलों को विकसित करने के लिए सूर्य के समान **(भाति)** शोभायमान होते है।

भावार्थः- एकत्व वितर्क अवीचार शुक्ल ध्यान से योगी घातियाँ कर्मो का नाश करके केवलज्ञान और केवल दर्शन को प्राप्त कर अर्हंत अवस्था को प्राप्त करते है।

घातियाँ कर्मो के नाश से उन्हें सहज ही अनन्तचतुष्टय, समवसरणादि की विभूति प्राप्त होती है तथा सहज ही भव्य जीवों के हितार्थ दिव्यध्वनि प्रकट होती है।

धर्मामृतप्रवर्षेण प्रीणयन् भव्यचातकान् ।
पर्यटत्यविघ्नमुद्घो जिनो ध्यानधरो धराम् ॥133॥

अन्वयार्थः- **(ध्यानधरः)** ध्यान को धारण करने वाले **(उद्घः)** श्रेष्ठ **(जिनः)** जिन देव **(धर्मामृतप्रवर्षेण)** धर्मामृत रूपी वर्षा के द्वारा **(भव्यचातकान् प्रीणयन्)** भव्य चातको को प्रीति उत्पन्न करते हुए **(धराम्)** पृथ्वी पर **(अविघ्नम्)** बाधा रहित **(पर्यटति)** बिहार करते हैं।

भावार्थः- केवलज्ञान प्राप्त करने के उपरान्त जिनदेव धर्मामृत रूपी वर्षा के द्वारा भव्य चातकों को प्रीति उत्पन्न करते हुए पृथ्वी पर विहार करते हैं। भगवान का विहार मात्र लोक कल्याण के लिये होता है उनके बिहार से दुर्भिक्ष आदि दूर होते हैं तथा लोगों के हृदय में सत् असत् का विवेक जागृत होता है। भगवान् का बिहार पाँच हजार धनुष ऊपर आकाश

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

में होता है तथा देवकृत अतिशय के कारण उनके बिहार काल में देवों के द्वारा सात आगे सात पीछे और एक चरणों के नीचे इस प्रकार पन्द्रह-पन्द्रह सहस्रदल कमलों की पन्द्रह पंक्तियों की रचना होती है। उन 225 कमलों के ऊपर उनका स्पर्श न करते हुए भगवान् का बिहार होता है उस समय उन सहस्रदल कमलों तथा भगवान् के रक्त वर्ण पद तलों से ऐसा जान पड़ता है मानों आकाशतल अनेक पल्लवों लाल-लाल किसलय दलों से ही व्याप्त हो रहा है।[1]

उन्मूलयति मिथ्यात्वं द्रव्यभावमलं विभुः ।
बोधयत्यपि निःशेषं भव्य राजीवमण्डलम् ॥

अर्थः- वे विभु सर्वज्ञ भगवान पृथ्वीतल में विहार करके जीवों के द्रव्यमल और भावमल रूप मिथ्यात्वका जड़ से नाश करते हैं और समस्त भव्य जीव रूपी कमलों की मंडली को प्रफुल्लित करते हैं।[2]

येषामायुः समानि स्यु र्नामगोत्रे च वैद्यकम् ।
अकृत्वा ते समुद्धातं शैलेश्यमिय्रति जिनाः ॥134॥

अन्वयार्थः- **(येषां)** जिनकी **(आयुः)** आयुकर्म की स्थिति **(नाम गोत्रे च वैद्यकम्)** नाम, गोत्र और वेदनीय के **(समानि)** समान **(स्युः)** हो **(ते)** वे **(जिनः)** जिन **(समुद्धातं)** समुद्धात **(अकृत्वा)** नहीं करके **(शैलेश्य)** शैलेश्य अवस्था को **(मिय्रति)** प्राप्त कर लेते हैं।

भावार्थः- जो जिन उत्कृष्ट छह महीने की आयु अवशेष रहते हुए केवली हुए हैं वे अवश्य ही समुद्घात करते है तथा जब आयुकर्म अन्तर्मुहुर्त अवशेष रह जाता है और अन्य तीनों कर्मों की स्थिति अधिक रह जाती है ऐसे वे केवली भगवान क्रम से दण्ड, कपाट, प्रतर इन तीन क्रियाओं को तीन समय में करके चौथे समय में लोकपूरण समुद्घात अवस्था में वेदनीय, नाम और गोत्र इन तीनों अघातिकर्मो की स्थिति घटाकर आयुकर्म के समान कर लेते है पुनः लोकपूरण से प्रतर, कपाट, दण्डरूप होकर चौथे समय में आत्मप्रदेशों में स्थित होते हैं तत्पश्चात् सूक्ष्म काययोग में स्थिति होकर तृतीय सूक्ष्मक्रियाअप्रतिपाति ध्यान को करके अयोग

---

1. स.स्तो. टी./29, ह.पु./59 2. ज्ञा. 42/34

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

गुणस्थान के पहले समय में कर्मों की बहत्तर प्रकृतियाँ शीघ्र ही नष्ट हो जाती है और उन अयोगी केवली के उपान्त्य समय में साक्षात् निर्मल समुच्छिन्न क्रिय नामक चौथा शुक्ल ध्यान प्रगट होता है तत्पश्चात् शेष रही हुई तेरह कर्म प्रकृतियों की सत्ता विलय हो जाती है इस चौदहवें गुणस्थान में लघु पाँच अक्षर का अ इ उ ऋ लृ का उच्चारण हो उतने काल तक ठहरते है पश्चात् कर्म बन्ध से रहित उर्ध्वगमन कर एक ही समय में कर्म के अवरोध से रहित वे लोक के अग्रभाग में विराजमान हो जाते हैं किन्तु जिनकी आयुकर्म की स्थिति तीन कर्म अर्थात् नाम. गोत्र, वेदनीय के तुल्य होती है वे समुद्धात नहीं करते हैं।

कृत्वाऽन्ये योगसंरोधं कुर्युरन्ते तु योगिनः ।
स्युसूक्ष्मक्रियायोगेन वीतयोगा विबन्धनाः ।।135।।
समुच्छिन्नक्रियेणाऽथ हत्वा घातिबलं बलात् ।
साधितात्मस्वभावास्ते प्रयान्ति पदमव्ययम् ।।136।।

अन्वयार्थः- **(अन्ये योग संरोध)** अवशेष बचे हुये योगों को निग्रह **(कृत्वा)** करे **(योगिनः)** योगी **(अन्ते)** अन्त में **(सूक्ष्मक्रिया योगेन)** सूक्ष्म क्रिया अप्रतिपाति ध्यान के बल से **(विबन्धनाः)** नवीन कर्मो के बंध से मुक्त होकर **(वीतयोगा)** अयोगी जिन **(स्युः)** हो पश्चात् **(बलात्)** ध्यान के बल से जिन्होंने **(अघातिबंध)** अघातिया कर्म रूपी सेना को **(हत्वा)** नष्ट किया है। **(अथ)** पश्चात् **(समुच्छिन्नक्रियेण)** समुच्छिन्न क्रिया अपर नाम व्युरपरत क्रिया नामक चतुर्थ के ध्यान द्वारा **(साधितात्मस्वभावाः)** आत्म स्वभाव को प्राप्त किया है जिन्होंने **(ते)** वे **(अव्ययम्)** अविनाशी **(पदं)** पद को **(प्रयान्ति)** प्राप्त करते हैं।

मोक्षलक्ष्मीसमाश्लिष्टाः विशिष्टगुणभूषणाः ।
शीलमालानिरौपम्या भुवनेश्वरवन्दिताः ।।137।।
तत्र त्रैलोक्यसाम्राज्य-श्रियमात्यन्तिकीं पराम् ।
सेवमाना निराबाधमनन्तं कालमासते ।।138।।

अन्वयार्थः- **(मोक्षलक्ष्मीसमाश्लिष्टाः)** मोक्ष लक्ष्मी से आलिङ्गित

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

(विशिष्टगुणभूषणाः) विशिष्ट गुण रूपी भूषण को धारण करने वाले **(निरौपम्या शीलमाला)** उपमा रहित शील के स्वामी **(भुवनेश्वरवन्दिताः)** तीन लोक के द्वारा वन्दनीय **(त्रैलोक्यसाम्राज्य)** तीन लोक के साम्राज्य की **(पराम्)** उत्कृष्ट **(आत्यन्तिकी)** अलौकिक मोक्ष रूपी **(श्रियम्)** लक्ष्मी को **(सेवमाना)** सेवन करते हुए **(निराबाधमनन्तं)** बाधा रहित होकर अनतं **(कालमासते)** काल तक रहते है।

भावार्थ :- मुक्ति को प्राप्त करने के पश्चात् सिद्ध परमेष्ठी, बाधारहित निराकुल सुख का अनंतकाल तक पान करते रहते हैं। इस श्लोक से मसकरी मत का निराकरण हो जाता है जो यह मानता है कि मुक्ति होने के पश्चात् जीव का पुनरागमन होता है।

सच्चरित्रतरुः सम्यग् यः पूर्वमभिवर्धितः ।
सद्ध्यानामृतसंसेकैस्तत्फलं भुञ्जते शिवम् ॥139॥

अन्वयार्थः- **(यः पूर्वम्)** जिसने पूर्व में **(सच्चरित्रतरुः)** सच्चरित्र रूपीवृक्ष की **(सम्यग्)** समीचीन **(अभिवर्धित)** वृद्धि की थी। **(सद्ध्यानामृतसंसेकैः)** सद्ध्यान रूपी अमृत से सिंचन किया था **(तत्)** उसने **(शिवम्)** मोक्ष **(फलं)** फल को **(भुञ्जते)** प्राप्त किया है।

भावार्थ :- जिस भव्य सम्यदृष्टि ने उत्तम चारित्र को धारण कर, ध्यान का आलम्बन लेकर उसी में स्थिरता को वृद्धिगत किया है उसी ने निराकुल सुख की यथार्थ में उपलब्धि की है- ऐसा जानना चाहिये।

महामोहवृहन्मीनं दुःखवाडववह्निकम् ।
ध्याननावा समुत्तीर्णं संसारापारसागरम् ॥140॥

अन्वयार्थः- **(संसारापारसागरम्)** संसार रूपी अपार समुद्र **(महामोहवृहन्मीनं)** जिसमें महामोहरूपी बड़ी-बड़ी मछलियां हैं **(दुःखवाडववह्निकम्)** दुःखरूपी वाडवाग्नि लग रही है ऐसा समुद्र **(ध्याननावा)** ध्यान रूपी नाव के द्वारा ही **(समुत्तीर्णं)** पार किया जा सकता है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

भावार्थ :- यह संसार असीम समुद्र के सदृश है- जिस प्रकार समुद्र विशालकाय मछलियों से सहित होता है- उसी प्रकार प्राणियों के मोह से जो विशाल मत्स्य के सदृश है जिसके कारण नाना-संकल्पों-विकल्पों से दुःख उत्पन्न होता है उन सभी प्रकार के दुःखों से छूटने का उपाय एकमात्र ध्यान है।

आत्यन्तिकसुखावासं निराबाधजिनान्वितम् ।
नानागुणमणिव्रातं निर्वाणद्वीपमाश्रितः ॥141॥
आत्माधीनं निराबाधं निरौपम्यस्वभावजम् ।
निर्द्वन्दातीन्द्रियानन्त-सौख्यसागरवर्तिनाम् ॥142॥
को नाम वर्णयेत्तेषां स्वरूपं परमात्मनाम् ।
ज्ञानात्मनामचिन्त्यानां सर्वज्ञज्ञानगोचरम् ॥143॥

अन्वयार्थः- **(निर्वाणद्वीपमाश्रितः)** जो निर्वाण द्वीप प्राप्त करते है वे सिद्ध परमेष्ठी में वहाँ पर **(निराबाध)** बाधा रहित है **(जिनान्वितम्)** जिन संज्ञा से य ुक्त **(आत्यन्तिक सुखावासं)** आत्यन्तिक सुख के स्थान स्वरूप है- **(नानागुणमणिव्रतां)** नाना गुण रूपी मणियों के समूह से सहित **(आत्माधीनं)** आत्मा धीन **(निराबाधं)** निराबाध **(निरौपम्य)** निरुपम **(स्वभावजम्)** स्वभाव से उत्पन्न होने वाला **(निर्द्वन्दातीन्द्रिय)** निर्द्वन्द, अतीन्द्रिय **(अनन्त सौख्य सागरवर्तिनाम्)** अनन्त सुख सागर में वर्तने वाले। **(ज्ञानात्मनाम्)** ज्ञान स्वरूप **(अ चिन्त्यानां)** अचिन्त्य **(सर्वज्ञज्ञानगोरचरम्)** सर्वज्ञ के ज्ञान के गोचर **(तेषां)** उन **(परमात्मनाम्)** परमात्मा के **(स्वरूपं)** स्वरूप को **(को नाम)** ऐसा कौन है जो **(वर्णयेत्)** वर्णन कर सकता है।

भावार्थ :- आत्म द्रव्य में अनंत गुण है सिद्धावस्था में सम्पूर्ण गुणों का शुद्ध परिणमन होने लगता है उन सभी गुणों में ज्ञान गुण ही प्रमुख है- उस ज्ञान गुण की शुद्धावस्था प्रकट होने पर चराचर पदार्थों की त्रिकालवर्ती पर्यायें दर्पण के प्रतिबिम्ब के समान ज्ञान में प्रकट होती है तथा साथ ही अन्य अनंत गुणों का भी यथा-सर्वदर्शित्व, अव्यावाध सुख इत्यादि का भी शुद्ध स्वरूप प्रकट हो जाता है- इन सभी प्रकट गुणों को सर्वज्ञ भगवान्

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

के अलावा अन्य कोई भी छद्मस्थ निरूपण करने में समर्थ नहीं है।

गन्तुमन्तो न शक्येत यद्वदाकाशकालयोः ।
ज्ञानदर्शन सौख्यादिगुणानां तद्वदात्मनाम् ॥144॥

अन्वयार्थः- (यद्वत्) जिस प्रकार **(आकाशकालयोः)** आकाश और काल का **(अन्तः)** अन्त **(गन्तुम्)** जानने के लिए **(न शक्येत्)** कोई समर्थ नही है **(तद् वत्)** उसी प्रकार **(आत्मनाम्)** आत्मा के **(ज्ञानदर्शन)** ज्ञान, दर्शन **(सौख्यादिगुणानां)** सुख आदि गुणों का अन्त नहीं जाना जा सकता है।

भावार्थ :- आचार्य महाराज कहते हैं कि आकाश और काल द्रव्य का आदि, मध्य और अन्त किसी भी प्रकार जानना शक्य नहीं है, क्योंकि दोनों ही अनन्त है उसी प्रकार आत्म द्रव्य अनंत गुणों का समूह है उसके ज्ञान, सुखादि गुणों का अंत जानना किसी भी प्रकार संभव नहीं है।

मन्दरोदधिचन्द्रार्क - गगनादिगुणौघवत् ।
निष्ठितार्थसुखादीनामुपमानं न विद्यते ॥145॥

अन्वयार्थः- (मन्दरोदधिचन्द्रार्क गगनादिगुणौधवत्) सुमेरु पर्वत् समुद्र, चन्द्रमा, सूर्य, आकाश आदि के गुणों के समूह के समान **(निष्ठितार्थ सुखादीनां)** स्थित है सुखादि गुण जिसमें ऐसा आत्म द्रव्य **(उपमानं न विद्यते)** उपमा से रहित है।

भावार्थ :- सुमेरु पर्वत की विशालता, समुद्र की अगाधता, गंभीरता चन्द्रमा की सौम्यता, सूर्य की प्रतापता और आकाश की निर्लेपता इत्यादि इन सभी के गुणों से यदि ज्ञान, दर्शन, सुखादि गुणों से युक्त आत्म-द्रव्य की तुलना की जाये तो भी संभव नहीं है क्योंकि आत्म द्रव्य अनुपम है और अन्य बाह्य पदार्थो से चेतनत्वादि गुणों के कारण पृथक् ही है।

एवं ध्यानबलाद्धीराः साधयन्तूत्तमं पदम् ।
देवविद्याधरादीनां भुक्त्वा भोगपरम्पराम् ॥146॥

अन्वयार्थः- (एवं) इस प्रकार **(धीरः)** योगीजन **(ध्यानाबलाद्)** ध्यान

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

के बल से **(भोगपरम्पराम्)** भोगों की परम्परा **(देवविद्याधरादीनां)** देव विद्याधर आदि के सुखों को **(भुक्त्वा)** भोगकर **(उत्तम पदं)** उत्तम पद को **(साधयन्तु)** प्राप्त करते हैं।

भावार्थ :- सम्यग्दृष्टि भव्य जीव धर्म ध्यान के द्वारा स्वर्गादिक के उपमारहित सुखों को प्राप्त करता है- और शुक्ल ध्यान से सम्पूर्ण कर्मों की निर्जराकर मोक्षलक्ष्मी को प्राप्त करता है। इस प्रकार ध्यान उत्तम भुक्तिं और मुक्ति दातार है। जो योगी वर्तमान में द्रव्य, क्षेत्र, काल तथा यथाबल से धर्मध्यान को ही प्राप्त कर पाते है- वे आगामी काल में शुक्ल ध्यान को प्राप्त कर मोक्ष को प्राप्त करते है। इस प्रकार उन योगीयों को परम्परा से मुक्ति की प्राप्ति अवश्य होर्ती है।

उत्तमः संयमो ध्यानं ध्यानमत्युत्तमं तपः ।
संवरः परमो ध्यानं ध्यानं सर्वार्थसाधनम् ॥147॥

अन्वयार्थः- **(उत्तम : संयमो ध्यानं)** ध्यान ही उत्तम संयम है। **(ध्यानं)** ध्यान ही **(उत्तमं तपः)** उत्तप तप है **(ध्यानं)** ध्यान ही **(परमः सवरः)** उत्कृष्ट संवर है और **(ध्यानं)** ध्यान **(सर्वार्थसाधनम्)** ध्यान ही सभी सिद्धियों का कारण है।

भावार्थ :- ध्यान की महिमा निरूपण करते हुये आचार्य महाराज कहते है कि ध्यान ही निश्चय संयम, तप, संवर आदि का दायक है तथा ध्यान के ही द्वारा ऐहिक और पारमार्थिक सुख की उपलब्धि होती है।

संयमाभरणोद्भासी गुरुभक्तिपरायणः ।
संसारसागरोत्तीर्णः प्रयाति परमं पदम् ॥148॥

अन्वयार्थः- **(संयमाभरणोद्भासी)** जो संयम रूपी आभरण से शोभायमान है **(गुरूभक्तिपरायणः)** गुरू भक्ति से सहित है वह **(संसारसागरोत्तीर्णः)** संसार सागर से उत्तीर्ण होकर **(परमं पदम् प्रयाति)** उत्कृष्ट पद को प्राप्त होता है।

भावार्थ :- संसार और मोक्ष के यथार्थ स्वरूप को जानने के पश्चात् भी यथार्थ मोक्ष मार्ग पर आरुढ होना अत्यधिक दुष्कर है यदि दैवयोग से

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

कोई उस पथ का पथिक भी बन गया तो- उसमें निरन्तरता बनी रहना अत्यधिक दुष्कर है क्योंकि श्रद्धा, ज्ञान, चारित्र, में कर्मोदयकृत परिणामों के कारण अस्थिरता उत्पन्न होती रहती है। यहाँ आचार्य महाराज निरूपण करते हैं कि जो साधु संयम से शोभायमान है तथा गुरुवचनों में तथा गुरु भक्ति में अतिशय श्रद्धावान् है- वहीं भव्य संसार समुद्र से पार होकर निराकुल पद को प्राप्त करता है।

उक्तः संज्ञेपतो ध्यान-विधिः किंचिद्यथामति ।
निःशेषमभिधातुं तत्केवलं केवली विभुः ॥149॥

अन्वयार्थः- (यथामति) इस प्रकार मैने अपने बौद्धिक बल के अनुसार **(ध्यान विधि)** ध्यान की विधि का **(किंचित्)** कुछ **(संक्षेपतः)** संक्षेप से **(उक्त :)** कथन किया **(तत्)** उस ध्यान को **(निःशेषं)** पूर्ण रूप से **(अभिधातुं)** कहने के लिए **(केवलं)** अकेले **(केवली)** केवली श्रुतकेवली **(विभुः)** समर्थ है।

भावार्थ :- आचार्य महाराज इस श्लोक कारिका के द्वारा यह अभिप्राय व्यक्त कर रहें हैं कि मेरे द्वारा संक्षेप से ध्यान, ध्याता, ध्येय, ध्यान फल का निरूपण किया गया है क्योंकि ध्यान के सम्पूर्ण कथन को करना केवली श्रुतकेवली के द्वारा ही संभव है।

सम्यग्गुरुपदेशेन विनिश्चित्यादरादिमम् ।
समभ्यस्य प्रयत्नेन याति शान्तपदं पुमान् ॥150॥

अन्वयार्थः- (सम्यग्गुरूपदेशेन) गुरु के श्रेष्ठ उपदेश से **(विनिश्चित्य)** निश्चय करके **(आदरात्)** आदर से **(प्रयत्नेन)** प्रयत्न पूर्वक **(इमम्)** इस ध्यान का **(समभ्यस्य)** अभ्यास करता है वह **(पुमान्)** पुरूष **(शांतपदं)** शांतपद को **(याति)** प्राप्त करता है।

भावाथ्र :- निराकुल सुख का जनक ध्यान है- उस ध्यान के विषय में जो यथार्थ ध्यान का स्वरूप गुरूओं के उपदेश से जानकर, श्रद्धा से उत्साहित होकर अभ्यास करता है- वह पुरूष शान्त पद अर्थात् निराकुल सुख का भोक्ता होता है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अज्ञानाद्यन्मया बद्ध-मागमस्य विरोधकृत ।
तत्सर्वमागमाभिज्ञाः शोधयन्तु विमत्सराः ॥151॥

अन्वयार्थः- (अज्ञानाद्) अज्ञान से (यत्) जो (मया) मेरे द्वारा (आगमस्य) आगम का (विरोधकृत) विरोध करने वाला तत्त्व (बद्ध) लिखा गया हो (तत्सर्वं) उस सब को (आगमाभिज्ञाः) आगम को जानने वाले (विमत्सराः) मत्सर रहित होकर (शोधयन्तु) शोधन करें।

भावार्थ :- आचार्य महाराज अपनी लघुता प्रकट करते हुये कहते हैं कि जो मेरे द्वारा ध्यान के स्वरूप का कथन किया गया है उसमें यदि अज्ञान से मेरे द्वारा आगम विरोधी कथन हो गया हो तो आगम विज्ञ साधु जन द्वेष रूप अभिप्राय का परित्याग कर उसका यथा योग्य संशोधन करें।

भद्रं भूतिभृतां भूरिभव्याम्भोजैकभास्वताम् ।
शासनाय जिनेशानामाशापाशविपाशिने ॥152॥

अन्वयार्थः- (भूति भृतां) अनन्त चतुष्टय अष्ट प्रातिहार्य आदि विभूति को धारण करने वाले (भूरिभव्याम्भोजैक भास्वताम्) विशेष रूप से भव्य जीव रूपी कमलों को विकसित करने के लिए सूर्य के समान (जिनेशानाम्) जिनेन्द्र भगवान के (आशापाशविपाशिने) आशा रूप बंधन को दूर करने में समर्थ (शासनाय) शासन के लिए (भद्रं) मंगल मय हो।

भावार्थ :- भगवान जिनेन्द्र देव का शासन जो भव्य जीव रूपी कमलों को प्रफुल्लित करने के लिए सूर्य के सदृश है तथा जो आशा रूपी तृष्णा बंधन का नाशक तथा अनंत चतुष्टय रूप लक्ष्मी का दायक है उस शासन के लिए मंगल हो।

संयमोत्तमपीयूष - पानसंशान्तदुःसह- ।
मोहहालाहलाग्निभ्यः श्रीगुरुभ्यो नमो नमः ॥153॥

अन्वयार्थः- (संयमोत्तम) उत्तम संयम रूप (पीयूषपान) अमृत पान से (संशान्त दुःसह) भली प्रकार से शान्त हो गयी है दुःसह (मोहहालाहलाग्निभ्यः) मोह रूपी विष की अग्नि जिनकी ऐसे (श्री

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

गुरुभ्यो नमो नमः) श्री गुरुओं के लिए बारम्बार नमस्कार हो।

भावार्थ :- आकुलता दुःख है और सांसारिक समस्त कार्य आकुलतामयी है ऐसा यथार्थ बोध प्राप्त करने के पश्चात् जिन्होनें संसार का नाश करने के लिए उत्तम संयम को धारण किया है तथा जिनकी मोह रूपी विष की अग्नि प्रशान्तता को प्राप्त हो गई है- ऐसे श्रेष्ठ सौम्य मूर्ति स्वरूप श्री गुरूओं के लिए मेरा बारम्बार नमस्कार हो।

त्रैलोक्यसाररत्नाय मोक्षलक्ष्मीविधायिने ।
संसारोत्तारिणे नित्यं नमः संयमसेतवे ॥154॥

अन्वयार्थः- (त्रैलोक्यसाररत्नाय) तीन लोकों का श्रेष्ठ रत्न स्वरूप **(मोक्षलक्ष्मी)** मोक्षलक्ष्मी को **(विधायिने)** उत्पन्न करने वाले **(नित्यं)** नित्य **(संसारोत्तारिणे)** संसार से तारने वाले **(संयमसेतवे)** संयम रूपी सेतु को **(नमः)** नमस्कार हो।

भावार्थ :- शुद्धात्मा की प्राप्ति ही मोक्ष है। वह मोक्ष निश्चय और व्यवहार दोनों मार्गो से प्राप्त किया जाता है निश्चय मार्ग तो साध्य है और व्यवहार मोक्ष मार्ग साधन रूप है। अभेद रत्नत्रय निजात्म रूप निश्चय मोक्ष मार्ग है- तथा पंच महाव्रत पंच समिति और त्रय गुप्ति रूप व्यवहार मोक्ष मार्ग है। इसका आश्रय लिये बिना संसार का नाश नहीं किया जा सकता है। अतः भवनाशक संयम के लिए मेरा नमस्कार हो।

तीर्थेशाश्चक्रनाथाः खचरहलधराः यं गणेन्द्राः मुनीन्द्राः।
ध्यानाब्धिं संविगाह्य प्रचुरगुणमणिव्रातमव्यग्रदेशम्।
याता यास्यन्ति यान्ति प्रवरशिवसुधापानभूभोगतृप्ताः
दासस्य श्रीगुरोर्मे शमसुखकृदसौ मानसे स्यात्सदैव ॥155॥

अन्वयार्थः- (यं) जिस **(ध्यानाब्धिं)** ध्यान रूपी समुद्र में **(संविगाह्य)** अच्छी तरह अवगाहन करके **(प्रवरशिवसुधापान भूभोग तृप्ताः)** सुखकारी अमृत के पान और पृथ्वी के भोग से तृप्त **(तीर्थेशाः)** तीर्थंकर **(चक्रनाथाः)** चक्रवर्ती **(खचर)** विद्याधर **(हलधराः)** वलभद्र **(गणेन्द्र)** गणधर **(मुनीन्द्र)** मुनि **(प्रचुरगुणमणि)** बहुत भारी गुण रूपी मणियों

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

का **(व्रातं)** समूह से युक्त **(अव्यग्रदेशम्)** आकुलता रहित अर्थात् मोक्ष के स्थान को **(याता)** प्राप्त हो चुके है **(यास्यन्ति)** होंगे **(यान्ति)** हो रहे है। **(शमसुखकृत्)** शान्ति सुख को करने वाला **(असौ)** यह ग्रन्थ **(श्री गुरोः)** श्री गुरु के **(दासस्य)** दास **(मे)** मेरे **(मानसे)** मनमें **(सदैव)** हमेशा **(स्यात्)** विद्यमान रहे।

भावार्थ :- ध्यान ही साक्षात् मुक्ति पथ है। उसी ध्यान रूपी अथाह समुद्र में प्रवेश करके तीर्थंकर, चक्रवर्ती गणधरादि मुनि निराकुल सुख के आश्रय भूत मोक्ष को प्राप्त कर चुके है। तथा विदेह क्षेत्र से वर्तमान में मुक्ति प्राप्त कर रहे है। तथा आगामी काल में प्राप्त करेगें। उसी ध्यान के कथन को करने वाला य ह ध्यान ग्रंथ मुझ श्री गुरु के दास **(द्वितीय पक्ष में श्रीगुरु दास)** के हृदय में विराजमान रहे।

विपुलवाङ्मयवारिधितत्त्वसन्-मणिमयूखलवांशकलाकृतेः।
स्मरणमात्रमिदंगदितंमया किमथ दृष्टमहो न महात्मभिः ॥156॥

अन्वयार्थः- **(विपुलवा ङ्मय)** उत्कृष्ट जिनवाणी रूपी **(वारिधितत्त्व सन्)** समुद्र के तत्त्व स्वरूप **(मणिमयूख)** मणि किरणो का **(लव)** अंश रूप **(कलाकृतेः)** कलाकृति का **(स्मरणमात्रं)** स्मरणमात्र **(मया)** मैने **(इदं)** यह शास्त्र **(गदितं)** कहा है **(महात्मभिः)** महात्माओं के द्वारा **(किमथ न दृष्टमहः)** क्या नहीं देखा गया ?

भावार्थ :- श्रुतदेवी सरस्वती जिनवाणी असीम समुद्र के सदृश है। जिस प्रकार रत्नाकर अनंत रत्नों से सहित होता है उसी प्रकार इसमें अनंत रत्न है उसमें से तत्व स्वरूप मणि किरणों का अंश मात्र यह कृति है अर्थात् अत्यल्प जिनवाणी का अंश है। जिस प्रकार अथाह जल राशि युक्त समुद्र में रत्न देखना अत्यधिक दुष्कर है किन्तु महात्माओं के द्वारा यह कार्य भी अशक्य नहीं है उसी प्रकार अनंत अवगाहित जिनवाणी से तत्त्वस्वरूप रत्न को खोजना महात्माओं के लिए अशक्य और दुष्कर नहीं है।

ध्यानोपदेशकोषोऽयं सरस्वत्या यदर्पितः ।
भव्यैरादीयमानोऽपि सर्वदाऽऽक्षयसंस्थितिः ॥157॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अन्वयार्थः- **(अयं)** यह **(ध्यानोपदेश)** ध्यानोपदेश रूपी **(कोष)**खजाना **(यत्)** जिसे **(सरस्वत्याः)** सरस्वती ने **(अर्पित)** दिया है **(भव्यैरादीयमानोऽपि)** भव्य जीवों के द्वारा ग्रहण किये जाने पर भी इसकी **(संस्थिति)** स्थित **(सर्वदा)** हमेशा **(अक्षय)** क्षय से रहित है।

भावार्थ :- वीतरागी, सर्वज्ञ और हितोपदेशी तीर्थंकर भगवान् के द्वारा भव्य जीवों के हितार्थ सच्चे सुख का मार्ग प्रतिपादन किया गया है उस मार्ग को गणधर महर्षि ने ग्रहण कर, श्रुत-अंङ्ग पूर्वादि में निबद्ध किया है- अंङ्ग पूर्वादि रूप श्रुत जिनवाणी सरस्वती, वाग्देवी, श्रुतदेवी इत्यादि मंगल नामों से जाना जाता है। प्रतिपाद्य श्रुत द्विधा रूप है भावश्रुत और द्रव्य श्रुत रूप। भावश्रुत तो अक्षय अनंत है किन्तु द्रव्य श्रुत साक्षर-सान्त है चूंकि यह ध्यानोपदेश रूपी कोष उसी जिनवाणी से ग्रहण किया गया है इसलिये यह अनंत है। भव्यजीवों के ग्रहण करने पर भी समाप्त नहीं होता है तथा स्थिति सदाकाल तक रहने वाली है। आचार्य श्री जी का यह आशय ग्रहण करना चाहिये।

श्रीनन्दनन्दिवत्सः श्रीनंदीगुरुपदाब्जषट्चरणः ।
श्रीगुरुदासो नन्द्यान्मुग्धमतिः श्रीसरस्वतीसूनुः ॥158॥

अन्वयार्थः- **(श्री नन्दन्दिवत्सः)** श्री नन्दनन्दि का पुत्र **(श्रीनंदीगुरु)** श्री नन्दीगुरु के **(पदावब्जषट्चरणः)** चरण कमलों का भौरा **(मुग्धमतिः)** अल्प बुद्धि वाला मैं **(श्री गुरुदासः)** श्री गुरुदास **(श्री सरस्वती सूनुः)** श्री सरस्वती का पुत्र **(नन्द्यात्)** समृद्धिमान होऊं।

इतिध्यानोपदेशकोषः (योगसारसंग्रहः)

4822

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

श्लोकानुक्रमणिका

अकारं परमं बीजं 66
अज्ञानाद्यन्मया बद्ध- 151
अणिमादिगुणानर्घ्य- 121
अध्यात्मजं निराबाध- 17
अनन्यशरणस्तद्धि 92
अनाहतसमाक्रान्त 78
अन्योऽहं देहतोऽमुष्मात् 103
अर्थादर्थं वचः शब्दात् 129
अशाश्वतं शरीरादि 99
अष्टोत्तरशतं पूर्णं 64
असंख्येयगुणं कर्म 119
अ सि आ उ सा बीजानि 68
आज्ञापायविपाकानां 56
आत्माधीनं निराबाधं 142
आत्यन्तिकसुखावासं 141
आत्यन्तिकस्वमोत्था 21
आर्त्त रौद्रं विदुर्धर्म्यं 37
इतीदृक्पुरुषाकारः 96
इहतः परलोके च 28
इहैवोपशमात्सौख्यं 110
उक्तः संक्षेपतो ध्यान- 149
उत्तमः संयमो ध्यानं 147
उद्यदादित्यविम्बाभं 80
उत्पद्यते विपद्येत 108
उत्सृजन्मन्दमुच्छ्वासं 55
उन्मज्जन्विनिर्मज्जन् 102
एकचिन्तानिरोधो यः 34
एकाश्रये सवीचारे 127
एकं द्रव्यमथाणुं वा 131
एताभिर्भावनाभिः स्वं 111
एतामास्थां समास्थाय 48
एवं ध्यानबलाद्धीराः 146
एवं शान्तकषायात्मा 130
एवं शुद्धनयालम्बि- 97
ॐ णमो अरहंताण- 75
कर्मजं भावमुत्सृज्य 47
कर्मपोतं समारुह्य 101
कर्मसमित्समुद्भूत 9
कल्याणातिशयैराढ्यो 88
कषायकालिकाकर्म- 107
कषायैरिन्द्रियैर्दुष्टैः 12
कष्टं कर्माष्टकं प्राप्य 59
कालानलमहाज्वाला- 10
कृत्वान्ये योगसंरोधं 136
को नाम वर्णयेत्तेषां 143
क्षान्त्यर्थं सर्वजन्तूना- 73
क्षीरवारिधिमध्यस्थं 62
क्षुत्तृष्णोष्मादिभिर्दुखैः 113
गन्तुमन्तो न शक्येत 144
गेहवासे कुतः सौख्य- 15
चित्तायत्तोब्रंजेज्जीवः 29
छद्मस्थानमिदं ध्यानं 35
छिन्ने भिन्ने हते दग्धे 116
जानन्नपिन जानाति 22
जीवाजीवादिभिर्भावैः 60
जोग्गे मग्गे तच्चे 79
ततश्च्युत्वावनौ भुक्त्वा 122
तत्र त्रैलोक्यसाम्राज्य- 138
तथाभूतमदाङ्कारं 82
तदुद्भवमजानानो 20

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

तस्मान्मनोनिरोधाय 31
तस्यैवादिनमस्कार- 67
तावदेव सुखी जीवो 24
तीर्थेशाश्चक्रनाथाः 155
त्रिकालगोचरानन्त 57
त्रिकालगोचरानन्त- 94
त्रिकालविषयं साक्षात् 87
त्र्येकयोगवपुर्योगा- 126
त्रैलोक्यसाररत्नाय 154
दुःखितः सुखिनं पश्यन् 26
धर्तुं मनो न शक्नोति 114
धर्मध्यानमतिक्रान्तो 123
धर्मामृतप्रवर्षेण 133
ध्याता ध्यानं तथा ध्येयं 36
ध्यानस्यालम्बनीभूता 98
ध्यानोपदेशकोशोऽयं 157
ध्यायंस्त्रयोदशीं मात्रां 71
ध्येयं वस्तु द्विधा तच्च 61
न दुःखं न सुखं किंचित् 25
न पश्यति तदा किंचित् 117
न वेत्ति किं करोमीति 23
नाहं देवो मनुष्यो वा 46
निष्कलः परमात्माहं 95
निष्प्रकम्पशिखो दीपः 112
परलोके पुनः स्वर्ग- 120
पर्यङ्कदेशमध्यस्थः 53
प्रणवस्य युगाभ्यां प्राक् 77
प्रमाणनयनिक्षेपैः 86
फलाशाष्टकसंश्लिष्टे 74
फलं तिर्यग्गतिस्तस्य 41
बोधशुद्धान्तरात्मानः 11
बन्धहेतून् कदापास्य 58
भद्रं भूतिभृतां भूरि 152
भद्रं भूरि भवाम्भोधि- 1
मधुरोऽम्लः कटुस्तिक्तः 45
मनसा वसुषा वाचा 44
मनोरोधे भवेद्रुद्धं 30
मस्तके वदने कण्ठे 79
महामोहवृहन्मीनं 140
मानुष्यं कर्मभूर्योग्यः 109
मूर्ध्नेन्दुभुक्तपीयूष- 63
मूषागर्भे गताशेष 91
मृत्युव्याघ्रसमाघ्रातं 100
मोक्षलक्ष्मी समाश्लिष्टा 137
मन्ददोदधिचन्द्रार्क- 145
यस्माद् ध्यानं बुधैरिष्टं 5
यः प्रमत्ताप्रमत्ताख्यः 52
येषामायुः समानि 134
योगरन्ध्रैरबुद्धात्मा 105
योगीन्द्रो रुन्द्रयोगाग्नि- 3
योजयेत्तद्गुणग्रामैः 93
रागद्वेषान्ममत्वाद्वा 43
रागान्धबुद्धयोजीवाः 19
ललाटपट्टसंश्लिष्टां 70
वज्रकायं परिप्राप्य 115
वर्गाष्टकं समादाय 76
वह्निना चेत् प्रवाल्येत 13
वितर्कः श्रुतमित्याहुः 128
विपुलवाङ्मयवारिधि- 156
विषयामिषसेवायाः 18

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

विषादामर्षशान्त्यादि-	38
वीतरागो भवन्योगी	85
वैराग्यं दशधा धर्मो	6
शरणोत्तममाङ्गल्य-	69
शरीरं विश्वतः	104
शिरःसरोरुहारूढ	83
शुक्लध्यानानलेनैव	132
शून्यवेश्मगिरीन्द्रोरु-	50
श्रीनन्दनन्दिवत्सः	158
षोडशाक्षरविद्यायां	65
सच्चरित्रतरुः सम्यक्	139
सत्संयमधरो धीरः	49
सद्दृष्टिः सद्धनुर्धीरः	106
सद्बोधवावार्धिनिर्धौत-	51
सद्वाग्वृत्तपदन्यास-	4
समाहृत्येन्द्रियग्राम-	54
समुच्छिन्नक्रियेणाथ	136
सम्यग्गुरुपदेशेन	150
सम्यग्गुरुपदेशेन	150
सम्यग्दृष्ट्याद्यसंख्येय	118
सर्वज्ञः सर्वदृक्सार्वो	90
सर्वलक्षणसंपूर्ण	89
सर्वलक्ष्यविनिर्मुक्तः	72
सर्वज्ञोपज्ञमाप्यापि	7
सर्वसारं दुरावापं	8
सर्वसंगविमुक्तानां	16
सवितर्कं सवीचारं	124
साम्यमेवादराद्भाव्यं	32
साम्यादपि महाक्ष्वेड	33
सूक्ष्मक्रियाप्रतीपाति	125
संकल्पोऽपि च जन्तूनां	27
संयमाभरणोद्भासि-	148
संयमोद्दाममारामं-	2
संयोगे युधिनिष्ठस्य	39
संयमोत्तमपीयूष-	153
संसारभीरुभिस्तस्मात्	14
स्याद्द्वितीयस्तृतीयश्च	40
स्वमशेषितकर्माणं	81
स्वसंवेगकृदन्याच्च	84
हिंसायामनृते स्तेये	42

4822

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanaṣi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

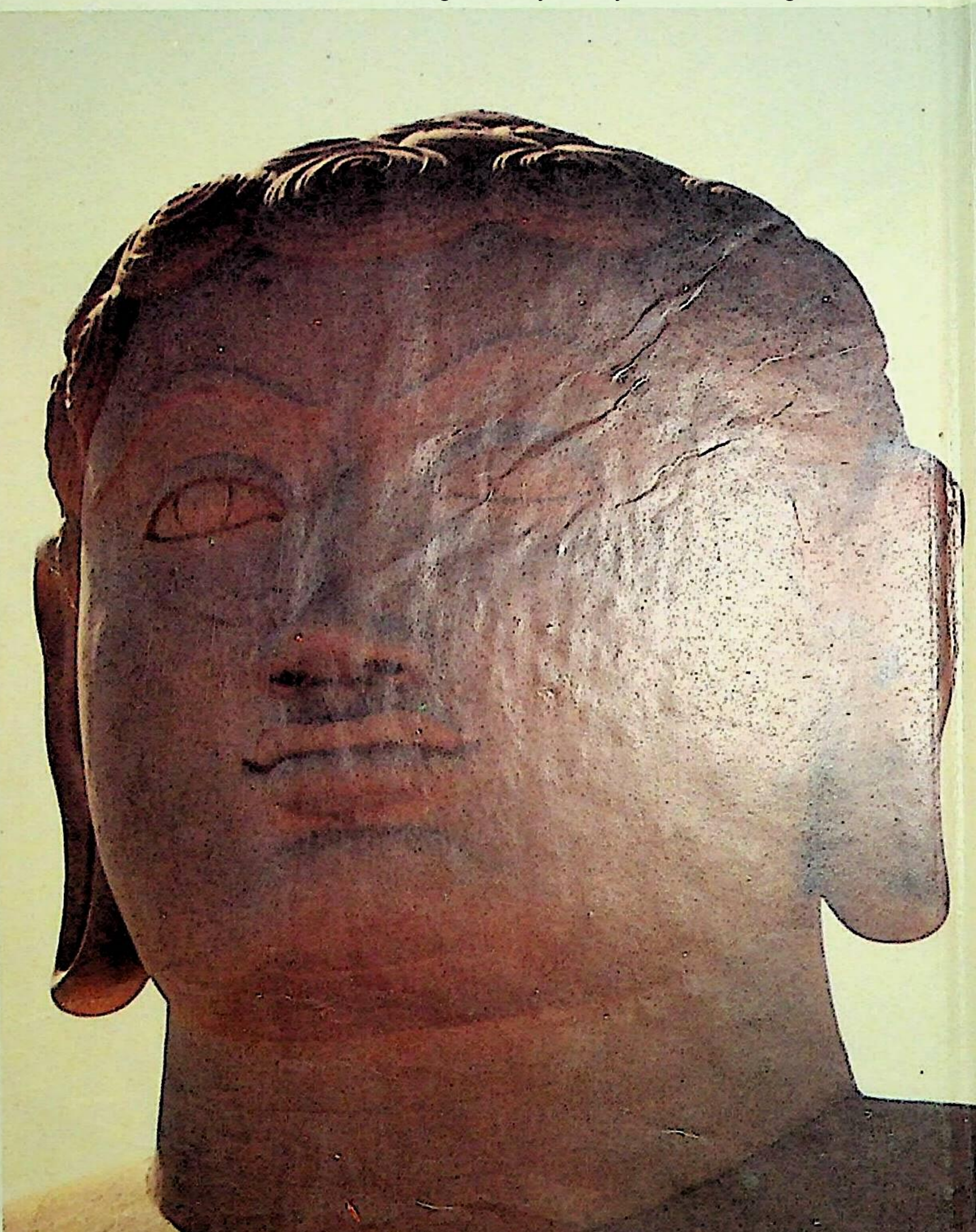

प्रकाशक

पोतदार धार्मिक एवं पारमार्थिक न्यास

पोतदार निवास, टीकमगढ़ (म.प्र.)

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi